धन्यवाद !

इस ग्रन्थ का मुद्रण-व्यय, नगर ठट्टा निवासिनी
सिन्धी लुहाणा, गृहस्थ भगवदीय बाई
गोमती बाई ने अपने निज दैवी
द्रव्य में से कृष्णार्पण किया
इसलिये उनको अनेक
धन्यवाद !

—ग्रन्थकर्त्ता.



मुद्रकः—
पं० पुरुषोत्तमदास मुरलीधर शर्मा,
हरीहर इलैक्ट्रिक मशीन प्रेस, मथुरा।



कुछ भगवदियों के प्रति ।

—:※:—

जगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।

दोष युक्त काल के प्रवाह मे पड़ी हुई जनता, इन्द्रियप्रीति और विषयानुराग में ऐसी फँस चुकी है कि वह धर्म के अनुरोध को सर्वथा नहीं चाहती। हम देखते है कि चारों तरफ से धर्म का त्याग कराने के अनेक उपाय रचे जारहे है। धर्मोका निर्माण क्यों हुआ है। यह मीमांसा बहुत गहरी है। पर शास्त्रो के देखने से इतना तो थोड़े से ही समझ पड़ता है कि देह और आत्मा की पवित्रता बनी रखने के लिये धर्म का निर्माण हुआ है।

आत्मा स्वतः पवित्र है। भगवदंश है, तथापि देहादि के अध्यास से उसमे भी अपवित्रता आजाती है। अतएव उस आगन्तुक अपवित्रता को हटाने के लिये भी धर्माचरण की अपेक्षा है। कहीं अपवित्रता दूर करने के लिये और कहीं पवित्रता को बनाये रखने के लिये भी धर्म की अपेक्षा है। पुष्टि और पुष्टिमार्ग दोनों पवित्र है, किन्तु आज कल जिन लक्षशः मनुष्यों का जन्म, इस प्रसिद्ध पुष्टि मार्ग में हुआ है, वे सब एको-एक पवित्र है या उनमे कालादि के द्वारा अपवित्रता आने की सम्भावना भी नहीं है, यह कहने की भूल कोई भी बुद्धिमान् नहीं कर सकता। देह इन्द्रियादिमान् पुरुष पर कालादि का प्रभाव होना आवश्यक है। यदि ऐसा न होता तो "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इतिमेमतिः" "सर्वथा भक्षयिष्यन्ति" इत्यादि वाक्य श्रीवल्लभाचार्यजी को कहने का अवसर न आता। अतएव अपने मार्ग की नहीं, पर मार्ग जन्मा जनता की पवित्रता बनी रहने के लिये तो स्वधर्माचरण की अपेक्षा है ही।

आज कल के वर्णाश्रम धर्म में दो विशेष धर्मों का सम्मेलन है। मोक्ष धर्म और पवित्रता रक्षक धर्म। अगोपाङ्ग धर्म सहित अङ्गी और

पचमहायज्ञ मोक्षप्रद धर्म है, किन्तु उपवीत विवाह,स्नान,संध्या,गौ रक्षा, ब्रह्मचर्य आदि पवित्रता रक्षक धर्म है। माना कि कलियुगने स्वरूपोपकारी और फलोपकारी अङ्गों में घुसकर वैदिक धर्मकी मुख्यताका नाश कर दिया है। अतएव उस धर्मसे मोक्ष होने की आशा करना व्यर्थ है और यह अर्थ "वर्णाश्रमवता धर्मे मुख्ये नष्टे" कारिका से स्पष्ट है, किन्तु 'सत्यवद' 'माहिंस्या' 'कश्चिद्वीर' आदि श्रुति स्मृति प्राप्त विवाहादि वर्णाश्रम धर्म सन्मिलित पवित्रता रक्षक धर्मों का त्याग करने का कहीं भी आचार्यादेश नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि हम उद्देश्यमात्र अति दुर्लभ और अवतार सामयिक शुद्ध पुष्टिमार्ग के आवेश में आकर वर्णाश्रम धर्ममात्र के त्याग का उपदेश करने लग जायँ, तो 'स्वभाव रक्त के लिये तो महान् व्यतिक्रम। बड़ा अनर्थ हो जाय। दुनियाँ तो धर्मत्याग चाह ही रही है और फिर यदि उन्हें बड़ों के प्रामाणिक वाक्य भी वैसे ही दे दिये जाय, तब तो फिर कहना ही क्या है।

कभी कभी ऐसा बनता है, सो न होना चाहिये और इसीलिये इस अनुग्रह मार्ग ग्रन्थ मे मैंने कुछ रूखे शब्द भी उपयुक्त किये हैं। मेरा उद्देश्य किसी के हृदय को पीड़ा पहुँचाने का नहीं है। उन शब्दों का भी यही उद्देश्य है कि श्रीवल्लभाधीश और उनके वचनों की पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे।

पुष्टिमार्ग का अङ्गोपाङ्ग सहित कृत्स्न निरूपण करना मेरीशक्ति के बाहर है तथापि श्रीआचार्य चरणों की प्रेरणानुसार उनके ही वचनामृतों के द्वारा जो कुछ पुष्टिमार्ग के विषय मे कहा है, उसे निर्मत्सर सुजन ग्रहण करें, यह मेरा सौभाग्य है।

सर्वं सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित्॥

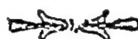
इतना कहकर हम वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

निवेदक—देवर्षि रमानाथ।

॥ श्रीहरिः ॥



अनुग्रह-मार्ग



निःसाधनदुःसाधनसुसाधनानामपीह गतिरेका।
सा श्रीपतेरनुग्रहनाम्नी लीलाऽनिशं जयति ॥

निःसाधन दुष्टसाधन और सुसाधन जीवों को भी उत्तम गति देने वाली भगवान् की पुष्टि लीला नित्य सर्वोत्कर्ष से चलती रहता है। भगवान की क्रीडायें अनन्त हैं। परिश्रम के बिना अपने दूसरे को आनन्द देने के लिये किये गये चरित्रों को क्रीड़ा या लीला कहते हैं। भगवान् की सब ही लीलाओं का वर्णन करना अशक्य है समाधि भाषा में कहा है कि—

'शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्यपारम्'

दो सहस्र जिह्वाओं से वर्णन करते हुए सहस्र वदन शेष भी आज तक भगवच्चरित्रों का पार नहीं पा सके। नारद जी ने व्यास जी से जो भगवच्चरित्र कहा है वह भी—

'प्रादेशमात्र भवत प्रदर्शितं'

—के अनुसार कुछ मुख्य मुख्य चरित्र ही कहे हैं और व्यास जी ने भी उनका ही विशद निरूपण किया। महापुरुष जगदीश्वर के चरित्र वर्णन करने और सुनने से हृदय और जिह्वा पवित्र होती है। इसलिये पुराणों में भगवान् की लीलाओं का निरूपण किया गया है।

जिन पुराणों में भगवान् की सर्गविसर्गादि पांच लीलाएं का वर्णन है वे पुराण कहे जाते हैं—

'पुराणं पंचलक्षणम्'

जिन में भगवान् की दश लीलाओ का निरूपण है, वे महापुराण हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण है। इसमें परमकाष्ठापन्न वस्तु पुरुषोत्तम एवं अवतीर्ण श्रीकृष्ण की दश क्रीड़ाओं का निरूपण है। इसका विशद विवेचन हम अपने 'श्री मद्भागवत का स्वरूप' इस ग्रंथ में कर चुके हैं।

सर्ग-विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय ये दशविध लीला परब्रह्म पुरुषोत्तम की हैं। इनका अलौकिक रीति से वर्णन श्रीमद्भागवत में हैं। दशम जो आश्रय लीला है वह क्रीड़ा भी है और उसका '(क्रीड़ाओं) आधार स्वय पुरुषोत्तम भी अर्थ है। नव लीलाओं के द्वारा यह दशम स्वय भगवान् गृहण किया जाता है। ग्राह्यत्याज्य विवेक का ही नाम श्रीमद्भागवत है। इस विषय को मैंने अपने श्रीकृष्ण का 'आश्रय' ग्रंथ में अच्छी तरह दिखा दिया है। आज जिस लीला का इस ग्रंथ में निरूपण करना है, वह चतुर्थी या दशमी पुष्टि लीला है। पुष्टि लीला चतुर्थी है। श्री मद्भागवत के द्वितीयस्कंध के लक्षणाध्याय मे—

'पोषणं तदनुग्रहः'

इस तरह इस क्रीड़ा का स्वरूप कहा है अर्थात् श्रीकृष्ण का अनुग्रह, वह पोषण या पुष्टि लीला कही जाती है और दश स्कंध में इसे चतुर्थी लीला कही है। पोषण या पुष्टि शब्द रूढ़ है और अनुग्रह शब्द यौगिक और रूढ़ दोनों है। रूढ़ अर्थ लेकर कृपा अतएव चतुर्थी लीला है और यौगिक अर्थ लेकर प्रत्यापत्ति किंवा आश्रय दशमी लीला है। लोक में पुष्टि या पोषण शब्द की प्रसिद्ध नहीं है, पर अनुग्रह शब्द प्रसिद्ध है।

अनुग्रह शब्द और तदर्थ लोक में नित्य व्यवहार में आ रहे हैं। प्रत्युत अनुग्रह मार्ग लोक सिद्ध ही है। पुष्टि की तरह प्रवाह और मर्यादा भी लोक में प्रसिद्ध हैं और इन दोनो के ही मार्ग दुनिया में चल रहे हैं। लोगों को यह भ्रम हो रहा है कि पुष्टिमार्ग श्री वल्लभाचार्य जी ने नवीन मार्ग निकाला है। पर वास्तव में सो नहीं है, पुष्टि प्रवाह और मर्यादा तीनों अनादि सिद्ध हैं। उनमें प्रवाह और पुष्टि दोनों के मार्ग तो लोक सिद्ध हैं। पुष्टि शब्द पोषण पर से बना है। एक में ति प्रत्यय है और दूसरे में 'ल्यु (अन)' प्रत्यय है। केवल प्रत्यय का ही भेद है अर्थ दोनो का एक ही अनुग्रह है।

जो कार्य वैदिक मर्यादा (नियम) के द्वारा और अ मनकी इच्छा के द्वारा किंवा अपनी क्रिया के द्वारा भी न सके, वह अनुग्रह [कृपा] के द्वारा हो सकता है, यह स प्रसिद्ध है। मास्टर का कार्य स्कूल में समय पर नियत पाठ देने का है, यह मर्यादा है। अब यदि कोई विद्यार्थी यह कि मैं सब लड़को से पहले ऊपर की श्रेणी में पहुंच जाऊं

प्रति दिन ही सब में श्रेष्ठ रहा करूं तो यह फल उसकी इच्छा क्रिया या स्कूल की मर्यादा से सिद्ध नहीं हो सकता, पर मास्टरों के अनुग्रह से सिद्ध हो सकता है। मास्टर कृपा करें तो उसे घर पर बुलाकर विशेष पढ़ा लिखा कर सर्व श्रेष्ठ करा सकता है। पर यह अनुग्रह का मार्ग है।। अपराधी को दण्ड शास्त्र के या राज्य के नियमो [मर्यादा] से दिया जाता है, सही पर यदि पर्षद या न्याय कर्ता अनुग्रह करें तो दण्ड को कुछ कम कर सकता है और ऐसा प्राय. होता है। ग्रहण में जल-भाण्डादि सब अपवित्र हो जाते हैं. पर मरुप्रदेशादि के लिये शास्त्रकारों नें भी अनुग्रह का मार्ग रक्खा है और कह दिया है कि ऐसे समय—

'मणिकस्थ न दुष्यति'

वडे माट का जल अपवित्र नहीं होता। दयालु साहूकार यदि चाहे तो असहाय कर्जदार से कुछ थोड़ा सा रुपया लेकर उसे उऋण कर सकता है और प्राय: ऐसा होता भी है। पर ये सब अनुग्रह के मार्ग हैं। चाण्डाली के पास राजरानी होने के लिये न मार्यादिक साधन हैं और न प्रवाहिक साधन ही हैं। पर यदि राजा ही अनुग्रह करे तो हाथ पकड़ कर अपनी रानी बना सकता है। अनुग्रह के ऐसे जो दृष्टान्त अनेक हैं। इसीलिये कहा गया है कि—

'अनुग्रहो लोक सिद्ध.'

यह पुष्टि भगवान् का धर्म है। अनुग्रह रूप इस भगवद्धर्म से काल कर्म और स्वभाव का भी बाध हो जाता है। अतएव कहा है कि—

'पुष्टिः कालादिबाधिका' 'कालादिनिवर्तकोऽनुग्रहापरनामा ।
वीर्यविशेषरूपो भगवद्धर्मः, पुष्टिरिति सिद्धम् ॥'
कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः कालादिबाधिका ।
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः ॥ भा.त.निबंधः।

अनुग्रह भगवान् श्रीकृष्ण का पराक्रम है, अतएव उनका ही धर्म है जैसे सूर्य का प्रकाश। यह अनुग्रह भगवद्धर्म होने से ही नित्य है। किसी कारण से इसकी उत्पत्ति साधनों से नहीं हो सकती है। अनुग्रह तो भगवान् की इच्छा के अधीन है। वह चाहे जिस पर कर सकता है।

भगवान् की दश लीलाओं में से पोषण लीला चतुर्थी है और इसके लिये भागवत का षष्ठ स्कन्ध नियत है। षष्ठ स्कन्ध में पुष्टिका सदृष्टान्त विवेचन है। केवल षष्ठ स्कन्ध में ही नहीं, भागवत द्वितीय स्कन्ध और द्वादश स्कन्ध में भी पोषण लीला का लक्षणरूप से निरूपण है। द्वितीय स्कन्ध के लक्षणा (उद्देश्य) ध्याय में दो बार अनुग्रह लीला का निरूपण आया है। उसकी टीका सुबोधिनी में चार पाँच जगह उसका विवरण किया है। श्री भागवत ने और उसकी सुबोधिनी टीका ने पोषण या अनुग्रह को चतुर्थी लीला और दशमी लीला मानी है। सर्ग-विसर्ग आदि लीलायें भगवान् के धर्म हैं और असाधारण धर्मों को ही लक्षण कहते हैं। इसलिये सर्ग विसर्गादि लीलायें भगवान् पुरुषोत्तम के लक्षण हैं और उन धर्मों के द्वारा श्री पुरुषोत्तम का ग्रहण(ज्ञान) किया जाता है, इसलिये भगवान् पुरुषोत्तम नव लक्षण लक्ष्य कहा जाता है।

इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादन किया है, वहाँ सुबोधिनी के आभास में श्रीकृष्ण को—

'अदीनलीला हसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्य्यऽनुग्रहम्'

इस विशेषण का अवतार माना है। जो परब्रह्म पुरुषोत्तम है, वही वहि प्रकट श्रीकृष्ण है। अतएव लक्षणाध्यायमें श्रीपुरुषोत्तम की सर्गादि दश लीला कहीं, तो इस विमर्शाध्याय में भी श्रीकृष्ण परब्रह्म को भी दशों लीला कहनी उचित हैं। वे दशों लीला 'अदीन लीला' इत्यादि एक विशेषण में कही गई हैं। यद्यपि एक-एक अवतार की अनन्त लीलायें हो चुकी हैं और है भी अनन्त, परन्तु विमर्श में जिनका उपयोग होता है, उनका ही यहाँ निरूपण किया गया है। वस्तु तत्त्व के विचार में सर्ग विसर्ग आदि दश लीलाओं की ही अपेक्षा है, इसलिये इन दश लीलाओं का ही निरूपण किया है। जो दश लीला पुरुषोत्तम की हैं, वे ही श्री कृष्ण की भी हैं, पर उनको यहाँ नामान्तर से कहा है। अदीनत्व (सर्ग), लीलात्व (विसर्ग), हसितत्व (स्थान), ईक्षणत्व (पोषण), उल्लासत्व (ऊति), भ्रूत्व (मन्वन्तर), भङ्गत्व (ईशानुकथा), संसूचितत्व (निरोध), भूरित्व (मुक्ति), अनुग्रह (आश्रय)। यहाँ अनुग्रह को आश्रय कहा है, तो अब अनुग्रह या पुष्टि पदार्थ के दो अर्थ और भी बढे, ईक्षणत्व और

विमर्शाध्याय के ३४ वे और ३५ वे श्लोक में मुक्ति और अनुग्रह का निरूपण है। विशेष कर ३५ वे श्लोक के उत्तरार्द्ध में ही दोनों को कह दिया है।

*यास्यन्त्य *दर्शन मल वलभीमपार्थ,*
व्याजाव्हयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥ ३५ ॥

यहां—अलं *अदर्शन यास्यन्ति, और तदीयं निलयं यास्यन्ति'*

इस तरह तन्त्र से क्रिया की आवृत्ति करके दो वाक्यों में भूरित्व और अनुग्रह दोनों का निरूपण है। अनु अर्थात् भूरित्व–मुक्ति के अनन्तर, ग्रहः गृहणं आदानं स्वीकार करना अनुग्रह आश्रय कहा जाता है जो अनुगृहीत हैं उनकी भूरित्व-मुक्ति में ही समाप्ति रहती है, पर प्रत्यापत्ति नहीं होती। पर जिनको स्वीकार कियाहै उनको मुक्तिमें से भी आदान ग्रहण करतेहैं यही आश्रय है यही प्रत्यापत्ति है और यही आत्मनिक्षेप है। यही मुख्य शरण है। प्रति आसमन्तात् पदनं प्रत्यापत्तिः। आत्मनः

---

*—अनुगृह आश्रय। नहि सर्वथा अननुगृहीतः स्वस्मिन्कमपिस्थापयति। एतद्धननं भगवच्चरित्रम्। आत्मत्वात्। अतएव हननादिकमनुक्त्वैव तद्गृहे गमनं निरूपितम्। सुबोधिनी। अनुगृहीतानां तु अक्षराभेदाश्रयत्वमेव, न तु कृपात्मकधर्मान्तरत्वम्। तस्य पूर्वोक्तधर्मविशिष्टेक्षण एव निवेशात्। किन्तु अनु-भूरित्वोत्तरं गृहात्याधेयत्वेन स्वीकरोतीत्यनुगृहः इति योगेनाश्रय एव तथेति। आत्मत्वादिति, आदायकत्वात्। 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चातिविषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते। इति तन्निर्वचनात्। प्रकाशः।

नितरां क्षेप: आत्मनिक्षेप:। शरणं आत्मनो हिसनं भेदसमाप्ति शरणम्। यहाँ आकर दैव आसुरादि सब सर्गों का समापन विलय हो जाता है। जहाँ से आभास उत्पत्ति वहाँ ही निरोध विलय,यही प्रत्यापत्ति।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि आसुर जीवों के लिये तो नित्य अन्धतम: प्रवेश—

'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'

अपने श्रीमुख से ही कहा है फिर यहा 'निलयं तदीय' धाम गोलोकगमन कैसे कहा। इसका उत्तर 'आत्मत्वात्' है श्रीकृष्ण सबका आत्मा है।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

आत्मरूप सारा जगत् ही विषय कहा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ही रूपान्तर से जगद्रूप को प्राप्त होता है अर्थात् सब पदार्थरूप से आप ही पैदा हो जाता है और फिर जगत् को पैदाकर उसमे आपही प्रवेश करता है तथा उसका अतिक्रमण भी कर जाता है—

'अत्यातिष्ठद्दशाङ्गुलम्' 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्'।

और फिर अन्त में सब अपने आप में मिला लेता है इस तरह जो पुरुषोत्तम के आत्मा (अपनपे) की सर्वदा सत्ता बनी रहती है। इसलिये पुरुषोत्तम को सबका आत्मा भी कहते हैं।

यहाँ तक द्वितीयस्कंध और सुबोधिनी के अनुसार पुष्टि का विवेचन किया। अब द्वादश स्कंध एवं षष्ठस्कंध निबन्ध मे,

पाष्ट के विषय में क्या कहा है, सो सुनिये ! द्वादशस्कंध में भगवान् की दश लीलाओ के सामान्य लक्षण कहे हैं। वहाँ पोषण के विषय में कहा है कि—

रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्याऽनुयुगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यते यैस्त्रयीद्विषः ॥

समय समय पर पशु पक्षी मनुष्य ऋषि और देवों में अवतार धारण कर, भगवान् वेद और वेदधर्म के द्वेष्टाओं को मार कर जो सारे जगत की रक्षा करते हैं। यह भगवान् की रक्षा करणरूपी लीला ही पुष्टि कही जाती है। रक्षा शब्द से यहाँ अलौकिक रक्षा समझना चाहिये। अब पुष्टि के रक्षा कृपा प्रवेश अभिवृद्धि स्थिति और अनुग्रह ये छ अर्थ हुए। पर छहों का तात्पर्य एक ही है। सब का तात्पर्यंत अलौकिक रक्षा ही अर्थ है। तथापि रक्षा रक्षा में भेद है, द्वादशस्कंधोक्त रक्षा सामान्य है और अनुग्रहादि शब्दो से सूचित विश्व रक्षा, अलौकिक रक्षा है। अतएव यह रक्षाविशेष है।

मनुष्य पशु पक्षी आदि में अवतार लेकर भगवान् वेद वैदिकधर्म विरोधियों का नाश करते हैं और इस तरह विश्व रक्षा करते हैं यह ठीक है, पर एकको मारकर दूसरे की रक्षा करना वास्तविक विश्व रक्षा है या नहीं यह विचारणीय है। बाधकों के स्वरूप का नाश करके कितने ही जगन् की रक्षा करलेना यह भी रक्षा ही है, पर बाधको का बाधकत्व दूर कर, उनके स्वभाव का ही परिवर्तन और उनकी भी मुक्ति कर देना और इस तरह विश्व मात्र कीही रक्षा कर लेना यह दूसरी बात है। पहली रक्षा लौकिक

है पक्षपात है और ईश्वरता की न्यूनता है और दूसरे तरह की भी रक्षा ही है पर अलौकिक है वास्तविक है और ऐश्वरीय सामर्थ्य की प्रकाशक है। आसुर लोक दैव जीवों के बाधक हैं, आसुर स्वभाव और आसुरसहकारी काल भी दैवों के बाधक हैं। उन सबका बाध करके भगवान् दैव जीवों की रक्षा करलेते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दैव जीवों पर भगवान् का अनुग्रह (पुष्टि) है और यह भगवान् की लीला पुष्टि लीला है यह मानते हैं। पर प्रश्न यह होता है कि क्या आसुर लोक रक्षणीय नहीं हैं, क्या वे जगत् के बाहिर हैं, क्या वे भगवान् के पुत्र स्थानीय नहीं हैं, सुपूत न सही कुपूत ही सही, पर विश्वमात्र भगवान् का ही अंश है यह मानना पडेगा। फिर क्यों आसुरो को मारकर दैवों की ही रक्षा करते हैं, यह प्रश्न रहा ही आता है। वास्तव मे तो सारा विश्व ही रक्षणीय है। सबके स्वभाव स्वरूप और परिवार की रक्षा ही विश्वरक्षा किंवा पुष्टि लीला कही जा सकती है । अतएव श्री सुबोधिनी में—

पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवाना हितकारिणी।

कहकर ब्रह्मादि देवताओं की गर्भस्तुति को पक्षपात कहा है और वास्तव में देवताओं ने वहाँ कहा भी ऐसा है—

सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्।

अर्थात हे भगवन्! आपका अवतार सन्तों को सुख देनेवाला और असुरों का अकल्याण करनेवाला है। संसारी भेद दृष्टि एवं सकाम लौकिक पुरुषों की दृष्टि से तो यह स्तुति कदाचित् ठीक मालूम दे, पर अद्वैत निरहमान निर्मम निष्काम सर्व

जगत्पिता परमेश्वर की दृष्टि से तो बिलकुल पक्षपात ही है। भगवत् गीता में जो भगवान् ने—

'परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्'

कहा है। यह भी संसारियों की दृष्टि से देवों को संतोष पहुंचानें के लिये कहा है, अपनी दृष्टि से नहीं। यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा, कि सारे जगत् के उत्पत्ति स्थिति सहार आदि व्यवहार भगवान की पुष्टि लीला से ही चल रहे हैं। सारे विश्व की स्थिति (पालन) भगवान् के अनुग्रह से ही चल रहा है। यही समाधि भाषा में इस तरह कहा है.—

द्रव्य कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥

द्रव्य कर्म काल स्वभाव और जीव आदि सब पदार्थ भगवान् के अनुग्रह के बल से ही स्थिति हैं जो थाड़ी भी उपेक्षा भगवान् करदें तो कुछ भी न रहे। इस आशय को लेकर भा० निबन्ध में कहा है कि:—

सर्वा लीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः।
अत. सृष्टिस्तु निखिला कृष्णार्थेति विनिश्चयः ॥

उत्पत्ति और संहार की अवस्था में यद्यपि भगवान् का अन्यायसा मालूम होता है, पर विचार से वहां भी भगवान् का अनुग्रह ही रहता है। सारा जगत् भगवान ने अपनी क्रीडा में सहयोग देने के लिये बनाया है यह वेद और शास्त्रों से स्पष्ट है। मान लो कि किसी राजा ने अपनेखेल में किसी को सहयोगी

वना लिया हो तो यह कार्य उसका अन्याय माना जायगा या अनुग्रह। मेरी समझ में तो यह उनका उस पर अनुग्रह ही है। हाँ! यदि उस खेल के समय कोई अपराध या अनौचित्य करले और उसे वह कोई दण्ड दे तो वह अवश्य बुरा मालूम दे। पर फिर भी वह अपनी स्वार्थदृष्टिसे ही न कि वास्तव दृष्टि से। इसीतरह जीवों को वह भगवान् अपनी लीला में सहयोगी वनाता है जगत् में उत्पन्न करता है और यह उसक अनुग्रह ही है, पर इतना रहते भी यदि हम कोई अपराध या उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर लें तो अवश्य जन्म के समय या स्थिति में कुछ थोडा दण्ड मिलै। पर यह दण्ड भी उसक शोधन होने से अनुग्रह ही है इत्यादि विचारदृष्टि से सर्वत्र भगवान् का अनुग्रह ही विदित होता है।

द्वादश स्कन्धोक्त रक्षारूप लक्षण, पुष्टि का सामान्य लक्षण है और षष्ठ स्कन्धोक्त कृपा, पुष्टि का विशेष लक्षण है अमुरों के मारने में भी भगवान् का अनुग्रह है, पोषण है, कृप है। अतएव कहा है कि—

'मन्येऽसुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे सरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।'

'जिन असुरों ने क्रोधादिमार्ग के द्वारा भगवान् में ही चित्त को पुहा रक्खा है उनको तो मैं भगवदीय मानता हूं' भगवान् आत्मीय में दोष देखना नहीं चाहते अतएव दोष आने पर उनकी दोष निवृत्ति के लिये ही उन्हें दण्ड देते हैं यह उनक अनुग्रह ही है।

अजामिलो दास्ययोग्यः प्रागेव हरिणा तथा।

विचारितो गर्वमुतथौ तथात्वं प्रापितो वलात् ॥
स्वभावदुष्टा जीवाहि स्वधर्मोत्कर्षभावुकाः ।
अतस्तथाविधं कृत्वा स्वात्मसात्कुरुते हरिः ॥

[*भाग० तत्वदीपः ६ स्कंध*]

भगवान् ने अजामिल को पहले ही दास्यके योग्य निश्चित कर रक्खा था पर स्वभाव के दोष से उसमें जब गर्वादि दैव दोष आये तब उस दोष को दूर कराने के लिये उसे नीचे गिराया और वहिर्मुखता दूर कराकर फिर स्वीकार किया, क्योंकि भगवान् हरि हैं। निर्दोष वनाकर ही ग्रहण करते हैं। जीव स्वरूपत. शुद्ध हैं। अक्षरात्मक हैं, पर अन्तःकरणध्यास आदि के द्वारा जब इसमें स्वधर्म आदि की उत्कर्षभावना प्रवृत्ति गर्व आदि दोष आजाते हैं, तव भगवान् उसे दण्ड देकर शुद्ध कर लेते हैं और आत्मीय कर लेते हैं। यह कृपा का ही लक्षण है।

विशेपलक्षणा पुष्टि लीला में वाधकों का नाश नहीं, उनका भी रक्षण है। उनके स्वभाव की भी रक्षा है। गाली देते देते उनका मोक्ष करते हैं। कलियुग के स्वरूप से ही उसे साधन वना लेते हैं। आसुरों के कर्मों का भी नाश नहीं। जहर देने से ही पूतना को मोक्ष दिया। उनके किसी परिवार परिकर का नाश नहीं, पर उन सबका परिवर्तन कर देते हैं। यही अलौकिक रक्षा कही जाती हे। जब भगवान् का अनुग्रह होता है तब दुष्ट समय सद्गुण वाला हो जाता है, दुष्ट कर्म सत्कर्म होजाते हैं, दु.स्वभाव सत्स्वभाव होजाता है, आसुर दैव हो जाते हैं और नरक मुक्ति मे वदल जाते हैं।

पूतना राक्षसी थी, उसका कर्म भी आसुर था, उसका

बना लिया हो तो यह कार्य उसका अन्याय माना जायगा या अनुग्रह। मेरी समझ में तो यह उनका उस पर अनुग्रह ही है। हाँ ! यदि उस खेल के समय कोई अपराध या अनौचित्य करले और उसे वह कोई दण्ड दे तो वह अवश्य बुरा मालूम दे। पर फिर भी वह अपनी स्वार्थदृष्टिसे ही न कि वास्तव दृष्टि से। इसीतरह जीवों को वह भगवान् अपनी लीला में सहयोगी बनाता है जगत् में उत्पन्न करता है और यह उसका अनुग्रह ही है, पर इतना रहते भी यदि हम कोई अपराध या उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर लें तो अवश्य जन्म के समय या स्थिति में कुछ थोडा दण्ड मिले। पर यह दण्ड भी उसका शोधन होने से अनुग्रह ही है इत्यादि विचारदृष्टि से सर्वत्र भगवान् का अनुग्रह ही विदित होता है।

द्वादश स्कन्धोक्त रक्षारूप लक्षण, पुष्टि का सामान्य लक्षण है और षष्ठ स्कन्धोक्त कृपा, पुष्टि का विशेष लक्षण है। असुरों के मारने में भी भगवान् का अनुग्रह है, पोषण है, कृपा है। अतएव कहा है कि—

'मन्येऽसुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।'

'जिन असुरों ने क्रोधादिमार्ग के द्वारा भगवान् में ही चित्त को पुहा रक्खा है उनको तो मैं भगवदीय मानता हू'। भगवान् आत्मीय में दोष देखना नहीं चाहते अतएव दोष आने पर उनकी दोष निवृत्ति के लिये ही उन्हें दण्ड देते हैं यह उनका अनुग्रह ही है।

अजामिलो दास्ययोग्यः प्रागेव हरिणा तथा।

विचारितो गर्वमुतथौ तथात्वं प्रापितो वलात् ॥
स्वभावदुष्टा जीवाहि स्वधर्मोत्कर्षभावुकाः ।
अतस्तथाविधं कृत्वा स्वात्मसात्कुरुते हरि. ॥

[भाग० तत्वदीपः ६ स्कध]

भगवान् ने अजामिल को पहले ही दास्यके योग्य निश्चित कर रक्खा था पर स्वभाव के दोप से उसमें जव गर्वादि दैव दोप आये तव उस दोप को दूर कराने के लिये उसे नीचे गिराया और वहिमुर्खता दूर कराकर फिर स्वीकार किया, क्योकि भगवान हरि हैं। निर्दोप वनाकर ही ग्रहण करते हैं। जीव स्वरूपत शुद्ध हैं। अक्षरात्मक हैं, पर अन्तःकरणध्यास आदि के द्वारा जब इसमें स्वधर्म आदि की उत्कर्पभावना प्रवृत्ति गर्व आदि दोप आजाते हैं, तव भगवान् उसे दण्ड देकर शुद्ध कर लेते हैं और आत्मीय कर लेते हैं। यह कृपा का ही लक्षण है।

विशेपलक्षणा पुष्टि लीला में वाधको का नाश नहीं, उनका भी रक्षण है। उनके स्वभाव की भी रक्षा है। गाली देते देते उनका मोक्ष करते हैं। कलियुग के स्वरूप से ही उसे साधन वना लेते हैं। आसुरो के कर्मों का भी नाश नहीं। जहर देने से ही पूतना को मोक्ष दिया। उनके किसी परिवार परिकर का नाश नहीं, पर उन सवका परिवर्तन कर देते हैं। यही अलौकिक रक्षा कही जाती है। जव भगवान् का अनुग्रह होता है तव दुष्ट समय सद्‌गुण वाला हो जाता है, दुष्ट कर्म सत्कर्म होजाते हैं, दुःस्वभाव सत्स्वभाव होजाता है. आसुर दैव हो जाते हैं और नरक मुक्ति मे वदल जाते हैं।

पूतना राक्षसी थी, उसका कर्म भी आसुर था, उनका

स्वभाव भी राक्षस था और उसको फल भी नरक ही योग्य था, पर भगवान् ने जब उसपर अनुग्रह किया, रक्षा करनी चाही तो किसी का भी नाश न करके सबको दूसरा रूप दे दिया। उसके देह स्वभाव कर्म सब कुछ बदल गये। सब असत् से सद्रूप हो गये। इससे उत्तम विश्व रक्षा का उदाहरण और क्या हो सकता है। अब और पुष्टि लीला कौनसी हो सकती है। यहां पर फल मुक्ति है। साधन अनुग्रह है। व्यापार, वैर किंवा जहर देना है। और मुक्ति दाता भगवान् हैं। अनुग्रह के आगे व्यापार अकिंचित्कर है।

पुष्टिस्कन्ध में विवेचन करके इन सब बातों का उदाहरण दे देकर निर्णय कर दिया है। मर्यादामार्ग से पुष्टि का मार्ग जुदा है और कभी कभी विरुद्ध भी है। मर्यादामार्ग में कर्म ज्ञान और भक्ति तथा उनके प्रकार ये सब जीवोद्धार के साधन हैं। वहां थोड़ा भी अनुग्रह ढिलाई नहीं होती, वह शासन मार्ग है। थोडी भूल भी सब साधनों को निकम्मे कर देती है, किन्तु अनुग्रह मार्ग में भक्ति आदि सबही साधन, साधन। नहीं वहां तो अनुग्रह ही साधन है, कृपा से ही जीवोद्धार होता है। जहां कुछ भी साधन नहीं हो सकता वहां दिखाने के लिये व्यापार की जगह कुछ भी साधन की तरह दिखा दिये जाते हैं। लोक समझते हैं भगवन्नाम लेने से अजामिल की मुक्ति हुई, पर वहां नाम साधन बिलकुल ही नहीं था, केवल अनुग्रह से उसका उद्धार हुआ। सब ही मार्यादिक साधनों की पुष्टि मार्ग में वही दशा है। पर एक मार्ग से दूसरा मार्ग बिगड़ न जाय, मर्यादा मार्ग भी चलता रहे। इसलिये भगवान् ने अनुग्रह को देवगुह्य

रक्खा है गूढ़भाव रक्खा है। इसलिये व्यापार की जगह मार्यादिक साधनों को भी स्वीकार कर लिया है। भक्ति सेवा स्तुति कीर्तन आदि करता रहे तो अनुग्रह छुपा रहा आवे। यदि कुछ भी न करता हुआ मुक्त हो जाय तो अनुग्रह की पहचान हो जावे। अनुग्रह देवलोकों की भी समझ में न आवे, इसलिये नाम ध्यान अर्चन आदि को बीच में पटक रक्खा है। जिससे मर्यादावालों को अपने साधनों पर से श्रद्धा न हटने पावे। इसे 'भगवत्कापट्य किंवा लोक संग्रह' कहते हैं। भगवत्कार्य किसी साधन या किसी मार्ग से सिद्ध नहीं होता, केवल भगवद्वासना और पुष्टि से ही सब जगत के व्यवहार चल रहे हैं। पर किमी मार्ग की भी स्थिति बिगडने न पावें, सब मार्ग सुरक्षित रहे आवें, इसलिये भगवान् ने यह कापट्य या लोक संग्रह का जगद्रक्षार्थ स्वीकार कर रक्खा है। अतएव कहा है कि—

कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका।
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः ॥
देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम् ।
पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते ॥

पुष्टि मार्ग में देव दैत्य और मनुष्य सब ही अधिकारी समान हैं। वहाँ सब ही चाण्डाल हैं और कोई भी चाण्डाल या ब्राह्मण नहीं हैं। "स्त्रियोऽन्त्यजाः" भाग॰ भगवान् को स्पर्श करने का उसकी सेवा आदि कुछ भी करने का किसी का भी अधिकार नहीं है, कर्मतः और जन्मतः। अतएव कहा है कि—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठं मन्ये
किमासन ते गरुडासनाय किंभूषण कौस्तुभभूषणाय ॥

लक्ष्मीकलत्राय किमस्तिदेयं वागीश किंते वचनीयमस्ति ।
नैवात्मन प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानजनादविदुषः करुणोवृणीते ॥
यद्यज्जनो भगवते विदधीन मौन तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथामुखश्रीः ।
कियान् पूर्व जीवः तदुचितकृतिश्चापि कियती ॥ इत्यादि

जब अनुग्रह होता है भगवत्सम्बन्ध होता है, तब उसी अवस्था में ही अधिकारी भी हो जाता है। इसलिये पुष्टि मार्ग में अनुग्रह ही नियामक है। भगवान् की अनुग्रह रूपा पुष्टिलीला काल कर्म और स्वभाव को बाध कर देने वाली है। और यह लीला लोक सिद्ध है। इसकी सत्ता गुप्त रक्खी गई है। भगवद्धर्म देवों की भी समझ में नहीं आ सकता। अतएव नाम ध्यान अर्चन आदि सब मार्यादिक साधनों को आगे रखकर भगवद्वीर्यका कार्य नामादिक पर प्रकाशित किया जाता है। सब कार्य भगवद्वीर्य अनुग्रह करता है, पर नाम, साधनत्वेन प्रसिद्ध, नामसेवा आदि व्यापारों का होता है। अस्तु ! अब इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

यह पुष्टि दो प्रकार की है, कार्यरूपा और कारण रूपा। कारणरूपा पुष्टि अनुग्रह है और कार्यरूपा पुष्टि भक्ति है कारणरूपा अतएव अनुग्रह को स्वार्था पुष्टि कहते हैं। और कार्यरूपा भक्तिपुष्टि को परार्था पुष्टि कहते हैं।

स्वः तन्मात्रो जीवः अर्थ. उद्धारे यस्याः सा स्वार्था ।
परस्ततोऽधिकोऽर्थोयस्याः सा परार्था ।

अनुगृहीत जीव मात्र का जहाँ अर्थ प्रयोजन सिद्धि होती हो, वह स्वार्था पुष्टि है। यह कारणरूपा पुष्टि अनुग्रह है पर जिससे भगवत्कार्य की सिद्धि होती हो वह कार्यरूपा भक्ति

रूपा पुष्टि है। कारणरूपा अनुग्रह पुष्टि का निरूपण पष्ठस्कंध मे है। और भक्ति रूपा पुष्टि का दिग्दर्शन नवम में है। पर वास्तव में तो अनवम-पूर्ण प्रसाद होने पर दशम स्कन्ध मे है। कारण कि वहाँ कारण, व्यापार सहित फलरूपा भक्ति सपारंकर कही गई है। प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति वास्तविक भक्ति है, वह सकारण सफला दशम मे ही कही गई है। यही भगवत्कार्य है। यही भगवत्कार्योपयोगिनी पुष्टि है।

स्वार्था पुष्टि जीव हितकारी है। अनुगृहीत जीवों का हित कृपा करने से ही होता है, सामान्य पराक्रम से नहीं। गाली देने वाले, युद्ध करने वाले, साधनो से रहित, प्रभृति जीव वहुत हो, तथापि परिगणित है। उनको भगवान् ने स्व करके ग्रहण किये हैं। इसे ही वरण कहते हैं। उन स्ववाच्य जीवों के लिये जो हित करने वाली है, वह कृपा (अनुग्रह) ही है। भक्ति आदि साधन नहीं। क्योंकि वे गोपादि किंवा चैद्यादि तो निःसाधन या दुष्टसाधन हैं। अतएव स्वमात्र अनुगृहीत जीव मात्र अर्थ [प्रयोजन] है, जिसका ऐसा स्वार्था पुष्टि अनुग्रह है। पर इतना ही भगवत्कार्य नहीं है। नियतकार्य भगवान् का नहीं है। भगवान् का कार्य विश्वोद्धार है। वह विश्वोद्धार भक्ति [स्मरणादि] से होता है। अतएव भक्तिही भगवत्कार्योपयोगिनी है। इसलिये वह भक्ति, कार्यरूपा कही जाती है। मर्यादा की दृष्टि सेऔर पुष्टिकी दृष्टिसे दोनो तरह भगवत्कार्यके उपयुक्त हैं। ब्राह्मण भी भक्ति कर सकता है दो स्त्री शूद्र अन्त्यजाति भी भगवद्भक्ति कर सकते हैं। शूद्रादि सर्वसामान्य, भक्ति के द्वारा मुक्त हो सकता है, किमुत वैरी आदि में भी सतत स्मरणरूपा कार्या

पुष्टि भक्ति वर्तमान है। इसलिये भक्तिरूपा पुष्टि, कार्यरूपा है और परार्था है। पर अर्थात् श्रेष्ठ है, प्रजोजन जिसका वह परार्था। उतने ही जीवों का हित स्वार्थ है। और सर्व सामान्य हित, वह भगवत्कर्तव्य होने से परार्थ [श्रेष्ठ प्रजोजन] है। इसलिये भक्ति को परार्था पुष्टि कहा है। दोनों पुष्टि लीला हैं। दोनों ही काल कर्म और स्वभाव का बाध कर देने वाली हैं। एक सान्यानुग्रह, दूसरा विशेषानुग्रह दोनों मार्ग हैं। दोनों कार्य तो [उद्धारादि] अनुग्रह ही करता है, पर यश, नाम-सेवा, रूपसेवा स्मरणादिका ही होता है। सब को दिखाकर अनुग्रह करना, यह भगवान् का स्वभाव नहीं है। वे अपने अनुग्रह को सब से छिपाना चाहते हैं, क्योंकि सर्वसमर्थ हैं और अक्लिष्ट कर्मा हैं। अनुग्रह को छिपाने के लिये नाम, ध्यान और पूजन आदि को आगे कर लेते हैं। अतएव अजामिल का उद्धार पुत्रोपचारित नामात्मक व्यापार से भी होगया। यमदूत देव हैं, पर वे भी वेद के वास्तविक तात्पर्य को न समझ कर भगवन्नाम ग्रहण करने वाले अजामिल को नरक में लेजाने लगे। ऐसे समय भगवान् के अनुग्रहने अजामिल के असत्कर्मों का नाश न कर, किन्तु उन्हें दबाकर त्रयीद्विष्टा यमदूतों को भी दबाकर, उसे काल और नरक से छुड़ा दिया। इतना ही नहीं, उसके स्वभाव का भी परिवर्तन कर दिया। वह अपने पूर्व स्वभाव को प्राप्त होगया। अब कर्म भी बदल गये। दुष्कर्मों को छोड़कर त्रयीसमत कर्म करने लग गया। यही कालादि बाधिका पुष्टि है। यही अलौकिक रक्षा रूपा पुष्टि भगवद्वतार का कार्य है।

" रक्षाऽच्युतावतारेहा "

इन्द्र ने विश्व रूप गुरू ब्राह्मण और भक्त को धोखे से मारा। अवतए वृत्रासुर के द्वारा उसका मरना न्याय एवं अनिवार्य था, किन्तु भगवान् के अनुग्रह ने नाम [नारायण कवचात्मक] को व्यापाररूप में आगे रखकर इन्द्र को काल से बचा लिया, पेट मे गया हुआ भी न मरा।

निर्गीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायावलेन च॥

अब वृत्रासुर भी राक्षस ही था, राक्षसो के कर्म और स्वभाव भी क्रूर ही होते हैं। अतएव मुक्ति का कोई साधन नहीं था, किन्तु भगवान् के अनुग्रह ने पूर्व जन्मोन नामात्मक "ओं नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि" इत्यादि ब्रह्मविद्या को आगे रखकर उसे भी मुक्ति का दान किया।

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम।
पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत॥

वृत्रासुर के देह से निकला हुआ आत्मतेज, सब लोगों के देखते अलौकिक स्थान [अक्षर ब्रह्म] को पहुँच गया। एकोनपञ्चाशत् मारुद्गण का गर्भ दितिगर्भस्थ होने से दैत्य ही था, किन्तु वहाँ भी भगवान् के अनुग्रह ने पहुचकर कश्यपजी की दी हुई "ओं नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय" इत्यादि नामात्मक विद्या को आगे कर उनके काल कर्म स्वभावों का बाध कर दिया। वज्र के द्वारा भी न मरे. दैत्य स्वभाव को छोड़कर देव होगये।

न ममारदितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया ।

दिति का गर्भ वज्र से न मरा क्योंकि उस पर श्रीनाथ की कृपा थी ।

एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता ।
सर्वबाधकरूपाहि दैत्ये पुष्टिरथोच्यते ॥

यहाँ इतना विशेष समझ रखना चाहिये, कि यद्यपि पुष्टि लीला काल कर्म स्वभाव को पलट देती है, उनका बाधकर देती है, यह ठीक है, किन्तु "प्राधान्येन व्यपदेशाभवन्ति" इस न्याय से कहीं विशेष कर कर्म का बाध करती है, कहीं काल का और कहीं स्वभावका और कहीं तीनों का । अजामिलादि नाम प्रकरण मे विशेष कर कर्म बाधिका, वृत्र की स्वभावबाधिका और मरुतों के तो तीनों को बदल दिया ।

यह बात ध्यान मे रखने की है, कि दशों लीलाओं का परस्पर सम्बन्ध है । अतएव एक दो लीलाओं को ही सुन लेने से भगवत्स्वरूप समझ मे आजाय सो असम्भव है, जिसे सम्पूर्ण भगवान् समझना है, उसे सब ही लीलाओं का परस्पर सम्बंध रखते हुए सारी लीलाओ के। ही समझना सुनना आवश्यक हैं, क्योंकि ध्यानाध्याय में अविच्छिन्न ध्यान धारणा का उपयोग कहा है और उसी का विवरणाध्याय में विवरण भी किया है । खण्डश. दर्शन ध्यान और विचार का निषेध है ।

'जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा' ।
'अव्युच्छिन्नेनचेतसा'

इस पुष्टि लीला के पहले स्थान लीला है और अनन्तर

ऊति [वासना] लीला है। तीनों की एक सांकल है। स्थान और पोषण में संधान है। अतएव दोनों लीलाओं का अनुसंधान रखना अपेक्षित है। उत्पन्नो की ही स्थिति हो सकती है। यह अनुसंधान है। और पुष्टि के अनुसार वासना होनी है, यह भी सन्धान है। जैसा स्वीकार, जैसा प्रवेश जिस प्रकार का अनुग्रह उसी प्रकार की वासना होती है। मुख्य मूल जीवस्थ वासना है। वह भगवत्कृत है। भगवान् जिसको जिस मार्ग में स्वीकार करते हैं उसको वैसी वासना धरोहर की तरह देते हैं। तदनुसार सब कुछ होताहै। सद्वासनाभा होतीहैं,असद्वासना भी। सद्सद्वासना वाले दोनो पर पुष्टि है। अतएव भगवान में दोष नहीं,दोष वासनाओ मे ही रहता है। ऐसा करने में केवल क्रीड़ा ही हेतु है। सद्वासना वाले द्विविध देव हैं और असद्वासना वाले द्विविध आसुर है। इन्हें ही अज्ञ और दुर्ज्ञ कहा है। षोडशाध्याय गीता मे जिन्हें " प्रवृत्तिंच निवृत्तिंच " इत्यादि श्लोको से जिनका वर्णन है, वे मूल किंवा दुर्ज्ञ आसुर हैं, और जो उनका अनुसरण करने वाले स्वतः अज्ञ थे आवेशी किंवा अज्ञ आसुर हैं! गीता में ही इनके अन्यत्र चार भेद कर दिये हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढा. प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

मूढ़, नराधम माययाऽपहृतज्ञान और आसुरभावं आश्रित ये चारआसुर हैं। इनमे मूढ़ और माययाऽपहृतज्ञान आसुर एक कोटि है। और नराधम और आसुर भावाश्रित दूसरी कोटि है।

मूढ़ और मायया अपहृतज्ञान ये दो अज्ञ या आवेशी आसुर हैं। और नराधम और आसुर भावाश्रित ये दो दुर्ज्ञ या मूल आसुर है। मूल जीवगत भगवत्कृत वासना से कितने ही दुष्कृति करते हैं। और कितने ही जीवकृत कर्मवासना द्वारा दुष्कृति करते रहते हैं, जो भगवद्दत्त आसुर वासना द्वारा दुष्कृति होकर आसुर हुए हैं उनका उद्धार स्वभाव प्राप्त ऐचिक प्रलय में भगवदाश्रय या प्रत्यापत्ति होती है और जो मूल आसुर न होकर भी आवेशी किंवा अपनी दुष्कृति से ही आसुर हुए हैं, उनपर भगवदनुग्रह होने से उनका उद्धार होता है। मूढ़ और माया मे ठगे गये दोनों आसुर, देश काल और संग के रंग में जल्दी। रंग जाते हैं। जैसे रंग में जाते हैं वैसे ही रंग जाते हैं। ये भक्त भी हो जाते हैं। वैदिक भी हो जाते हैं और आसुर भी हो जाते हैं। आसुर हो जाने पर ये ही आसुरावेशी आसुर कहे जाते हैं। अनुगृहीत इनमे से कितनों को ही भगवान् ही मारते हैं। उस समय ये भगवद्दर्शन करते हुए मरते हैं और मुक्त होते हैं। और जिनको भगवान् ने मूल आसुर बनाया है, उनके लिये केवल गतागत हैं, अन्धतम है।

"*ततो यान्त्यधमा गतिम्*"

यहाँ तक हमने उद्देशाध्याय और विमर्शाध्याय के वचनों के द्वारा पुष्टिशब्द का विवेचन किया। प्रवेश कृपा अलौकिक रक्षा स्थिति अनुग्रह, आश्रय और पोषण ये सब पुष्टि के अर्थ होते हैं। अब मार्ग शब्द मृजू शुद्धौ, धातु से बनता है। मृज्यते वितृणीक्रियते पादैरिति मार्गः। जिसे लोग अपने पैरों मे तृणादि विघ्न बाधा रहित बनालें, जाने लायक करलें

वह मार्ग। इसी सरणि से वेदादिशास्त्रोक्त साधन भी मार्ग कहे जासकते हैं, मार्ग इव मार्गः। ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और पुष्टिमार्ग। चाहै कैसा भी मार्ग हो सब में कृतिसाध्यता रहती है। मार्ग मात्र में जीवकृत साधनसाध्यता रहती है। पुष्टि भगवद्धर्म है। अतएव उसमें जीवकृत साधनसाध्यता नहीं हो सकती। पर वह जब मार्ग हो जाती है तब उस कृपा का भी मार्ग हो जाता है, उसमें भी जीवकृत साधन साध्यता आजाती है। पुष्टि भगवन्निष्ठ भगवद्धर्म (वीर्य) है और पुष्टिमार्ग जीवनिष्ठ जीवधर्म होजाता है। चाहे व्यापार की तरह हों पर वहाँ जीव कृतियाँ विद्यमान रहती हैं। शुद्ध पुष्टि मार्ग में भी मानसिक वृत्ति रूप निरंतर श्रीकृष्ण स्मरण तो रहता ही है।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने षोडश ग्रंथ में एक पुष्टिप्रवाह मर्यादा ग्रंथ भी लिखा है। यद्यपि यह ग्रंथ कुछ अधूरा है, तथापि पुष्टि मार्ग के विषय में तो संक्षेप में सब कुछ कह दिया है। इसका प्रारम्भ यहाँ से है—

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक्।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फले न च।
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः॥

प्रत्येक पदार्थ में अपना अपना विशेष [फरक] रहता ही है। इसी तरह पुष्टिमार्ग में भी अपना विशेष जुदा है ही। वह विशेष,जीव देह क्रिया प्रवाह और फलो के विशेषों में विभक्त है। इन पृथक् पृथक् विशेषों के द्वारा पुष्टिमार्ग का पृथक्करण किया जाता है। हमें यहां केवल पुष्टिमार्ग के विवेचन से ही प्रयोजन है। पुष्टि शब्द अनुग्रह वाचक है और यह अनुग्रह

भगवद्धर्म है यह कह चुके हैं। अनुग्रह लोक और शास्त्र दोनों से सिद्ध है। इसकी लोक सिद्धता तो पहले दिखा चुके अब शास्त्र से भी पुष्टि सिद्ध है, यह कहते हैं—

भक्तिमार्गस्य कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ।
'यदा यस्येति वचनान्' नाहं वेदैरितीरणात् ॥
सर्वश्रोत्कर्षकथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥

भक्ति-मार्ग सब मार्गों से सरल है। यदि भगवान् के हृदय में कृपा न होती तो वैदिक अनेक मार्गों के रहते सरल भक्तिमार्ग का उपदेश क्यों करते? इसका कारण इतना ही है कि भगवान् कृपालु हैं, उन्होंने देखा कि जगत् में इस समय वेदोक्त साधन सम्पत्ति सब को मिल जाय यह असंभव है। इस कलियुग में ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों के रहते भी, उन्हें वेदोक्त कर्मानुष्ठान के योग्य बाह्याभ्यान्तर सामग्री मिलनी कठिन है। देह इन्द्रिय अन्त.करण आन्तर सामग्री है और मंत्र द्रव्य देश काल आदि बाह्य सामग्री है। ज्ञान-मार्ग किंवा कर्म-मार्ग दोनो मे इन सब सामग्रियों की अपेक्षा रहती ही है। पर कलियुग ने इन सब में घुसकर इन्हें अशुद्ध और हीन सामर्थ्य कर दिये हैं। इस लिये आजकल वैदिक मार्ग के द्वारा जीवोद्धार होना कठिन है। फिर कितनों का [शूद्र अन्य जाति का] अधिकार ही ऐसा है कि वे वेदोक्त साधनों का अनुष्ठान ही नहीं कर सकते। किन्तु ससार के भय से मुक्त होने की इच्छा तो उनको भी कहीं कहीं होती ही है। तो क्या ऐसों के उद्धार के लिये कोई मार्ग का होना आवश्यक नहीं है? वेद की दृष्टि में अनधिकारी और अधिकारी हो सकता है, किन्तु जगत के माता पिता धाता पितामह और स्वामी भगवान् की दृष्टि में तो सब समान हैं। विशेषकर गरीबों

का तो वह रक्षक है ही, इस लिये इनके उद्धार का अन्य उपाय न देखकर सर्वसाध्य सरल भक्तिमार्ग का उपदेश किया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् का एक अनुग्रह रूप धर्म वलवान् है।

हम देखते हैं कि वेद में भी '*भक्तिरस्य भजन तदिहा मुत्र फलभोग नैराश्ये नाऽमुष्मिन् मनःकल्पनम्*' अथ श्रुतिः। इत्यादि वाक्यों से सरल भक्ति का उपदेश वर्तमान है। लौकिक वैदिक फलों की आशा छोड़कर मन को भगवान् में लगा देना यही भक्ति है। यदि वेद भगवत्कृत है तो मानना पड़ेगा कि भगवान् के हृदय में कृपा है। एक वेद में ही नहीं गीता और भागवत में अनेकवार भगवान् ने इस सरल भक्ति मार्ग का उपदेश किया है। '*सततं कीर्तयन्तोमां यतन्तश्चदृढव्रताः। नमस्यन्तश्चमां नित्य*' "*मांहिपार्थव्यपाश्रित्य*" "*भजस्वमाम्*" "*यो मद्भः-समेप्रियः*"......

"*तेमे युक्ततमा मताः*"। श्रीमद्भागवत में भी कई बार भक्तिमार्ग कहा है—

तस्मात्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानमखिला त्मानाम्।
याहि सर्वात्म-भावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥

हे उद्धव! इसलिये अपन्तू, श्रुतिस्मृतिकथित प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों को और श्रुत और श्रोतव्य शास्त्रों को भी एक तरफ रखकर सब प्राणी मात्र के मूल आत्मा और सब के रक्षक मुझ [श्रीकृष्ण] में ही सब तरह के भावों को रखकर

शरण जा। मेरे शरण आने से तू संसार के सब भयों से मुक्त हो जायगा।

वसुदेव और देवकी अपने माता पिता को भी भगवान ने भक्तिमार्ग का ही उपदेश दिया है—

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चाऽसकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्‌गतिं पराम्॥

हे मातः हे पित.! आप दोनों पुत्रभाव किंवा ब्रह्मभाव, पृथक् पृथक् मुझमें रखकर किंवा दोनों एक साथ रखकर, मेरा चिन्तवन करते रहो और मुझ में ही स्नेह रखने मात्र से आपको परमगति प्राप्त होगी। श्री रुक्मिणी को भी अपनी भक्ति का ही उपदेश दिया है—

दिष्ट्यागृहेश्वर्येस कृन्मयित्वया कृतानुवृत्तिर्भवमोचिनी खलैः सुदुष्करा।

हे गृहेश्वरि! मुझ में प्रेम होना संसारभय को दूर करने वाला है और दूषितहृदयों से यह मेरी भक्ति होना कठिन भी है। पर बड़ा सौभाग्य है कि तुमने वार वार इस मेरी भक्ति को दृढता से स्थिर रक्खी है। श्री गोपीजनो के प्रति भी भक्तिमार्ग का उपदेश दिया है।

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मा मुपैष्यथ॥

हे प्राणप्रेष्ठ! गोपियो! यह जो आपका मन सब वृत्तियो को छोडकर सब का सब मुझमे पुह रहा है सो अब इसी तरह के इस मन से मेरा सर्वदा स्मरण करती रहो, अवश्य इस थोडे ही

समय में मेरे पास पहुँच जाओगी। इस तरह सरल भक्तिमार्ग का सर्वत्र उपदेश किया है इस से स्पष्ट होता है कि भगवान् के हृदय में पुष्टि (अनुग्रह) धर्म विद्यमान है। इतना ही नहीं 'यो मे भक्तः स मे प्रियः' 'यो मद्भक्त. स मे प्रियः' इत्यादि वाक्यों से सब मार्गों मे भक्तिमार्ग को ही श्रेष्ठ कहा है। इससे भी स्पष्ट होता है कि भक्तों पर भगवान् को अनुग्रह है। (ते मे युक्त तमाभता;) सबसे उत्तमोत्तम योगी तो वे हैं जो मेरा वहिर्भजन, श्रवणकीर्तन सेवा आदि करते हैं।

एक बात और भी है गोता में भगवान् ने कहा है कि—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं द्रष्टवानसि मां यथा॥

अर्थात् हे अर्जुन! जो मेरा दर्शन तैंने किया है वह दर्शन वेदाध्ययनादि से, तपस्या आदि साधनों से, दान से और यज्ञादि कर्म करने से भी नहीं हो सकता। इतना कह कर स्पष्ट कह दिया कि किसी साधन से भी मेरा दर्शन नहीं हो सकता, पर फिर कहा कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुंच तत्त्वेन प्रवेष्टुंच परंतप॥

किन्तु हे अर्जुन! अनन्या भक्ति से ही मेरा इस तरह का ज्ञान, ऐसा दर्शन और मेरी सायुज्यमुक्ति, मिल सकती है। यह स्पष्ट ही भक्ति मार्ग का उत्कर्ष कहा है, इसलिये ज्ञात होता है, कि भगवान् के हृदय में अनुग्रह एक धर्म है। यहाँ तक यह सिद्ध हो चुका कि प्रवाह और मर्यादा मार्ग से पुष्टि मार्ग पृथक् है,

दिखाने के लिये आत्मभूतानां' शब्द है। ज्ञानी स्वयं ब्रह्म हो जाता है ब्रह्म में मिल जाता है। पर भक्तिमान् ब्रह्मांशब्रह्म रहते भी उसमें मिलता नहीं, पर भगवान् के आनन्द का स्वाद लेता रहता है। यह 'भक्तिमता' और 'यथा' शब्द से स्पष्ट हो रहा है ।

दुर्भगो बत लोकोयं यदवो नितरामपि ।

ये सवसन्तो न विदुर्हरिं मीनाइवोडुपम् ॥

यह संसारी लोग और विशेष कर बहुत से यादव भी एक दम दुर्भाग्य हैं जिन्होंने रात दिन पास रहते भी श्री कृष्ण को न पहचाना, चन्द्रमा को मछलियों की तरह। इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि संसारियों को इस लोक में इस ही श्रीभगवान् नहीं मिलता पर पुष्टि-मार्गीय जीवों को इसी लोक मे इसही देह में सुख से मिलता है। यह "इह" और "सुखाप." शब्दों से स्पष्ट हैं। ज्ञानियों को ब्रह्मरूप से मिल सकता है पर "गोपिका सुतः" रूप से नहीं मिल सकता, पर भक्ति वाले को तो भगवान् गोपी सुत होकर मिलते हैं। यह "गोपिका सुत" और "अथा" शब्दो से स्पष्ट होता है। इसलिये यह सिद्ध हो चुका कि शुद्ध पुष्टि मार्गीय जीव, मार्यादिक और प्रावाहिक जीवों से पृथक् है।

इतना ही नहीं, तीनो मार्गों के उत्पत्ति कारणों में भी भेद है। प्रावाहिक मार्ग की उत्पत्ति इच्छा निमित्तक मन से होती है।

'इच्छामात्रेण मनसा प्रवाह सृष्टवान् हरि.' ।

प्रवाहसृष्टि दो तरह की है वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य सृष्टि अन्तराजगत् कही जाती है। और आन्तरसृष्टि स्वाप्निक जगत् कही जाती है। दोनों जगत असत् हैं। दोनों आधिभौतिक जगत् हैं। फिर इनके भी अनेक भेद हैं।

असतोधि मनो असृजत, मनः प्रजापति ममृजत,
प्रजापतिः प्रजा असृजत यश्चास्माक मन्तरा भवाति ।

इत्यादि श्रुतियों मे वाह्य प्रवाहिक सृष्टि का निरूपण है और

"सएप सुप्तेपु जागर्ति काम काम पुरुपो निर्मिमाणः ।
न तत्र रथा न रथयोगा. न पन्थानो भवन्त्यथ रथा नृरथयोगान्पथ. सृजते।

इत्यादि श्रुतियों में आन्तर प्रवाहिक सृष्टि का वर्णन है। श्रीमद्भागवत एकादशस्कन्ध मे भी—

पुरुपः प्रकृतिश्चेति विकल्पः पुरुपर्पभ ।
एप वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मक. ॥

इत्यादि से प्रवाह सृष्टि का निरूपण है। इसका विशेप विवेचन हम अपने ब्रह्मवाद ग्रन्थ में कर चुके हैं। वेदवाणी से मर्यादा मार्ग का निर्माण है।

'सभूरिति व्याहरन्भूमिमसृजत ।"

इत्यादि श्रुतियों में तथा—

'सर्वेपा सनामानि रूपाणिच पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे '

इत्यादि स्मृतियों मे भी सारे जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय भगवान् ने शब्द ब्रह्म से ही की यह स्पष्ट होता है।

तीसरी सृष्टि पुष्टिमार्गीय है। पुष्टिमार्गीय सर्ग का निर्माण भगवान् ने अपने स्वरूप से ही किया। इस विपय का भी विवेचन हम अपने ब्रह्मवाद में अच्छी तरह कर चुके हैं।

'स आत्मान स्वयमकुरुत' 'सहेता वानास' स इममात्मान द्वैधाऽपातयत् ततः पतिश्चपत्नीचाभवनाम्। भगवान् ही सब कुछ होगया यह ब्राह्म सृष्टि है स्वरूप सृष्टि है और इसे ही लीलासृष्टि कहते हैं। समाधिभापामें भी *'कस्य रूप मभूद्द्वेधा तत्कायमभिचक्षते* । इत्यादि स्थल में भगवत्स्वरूप सृष्टि का निरूपण है। यह आनन्दमयी सृष्टि है। अपनी अन्तरङ्ग लीला करने के लिये यह सर्ग वनाया जाता है। इस तरह सर्ग का कारण जुदा होने से भी अनुग्रह मार्ग जुदा है। जिस तरह तीनो मार्गों की उत्पत्ति के कारण से भेद है। वैसे ही सर्ग की तरह तीनो मार्गों मे फल का भी भेद है -

मूलेच्छातः फल लोके वेदोक्त वैदिके पिच।
कायेन तु फल पुष्टौ भिन्नेच्छातोपि नैकधा॥

एकोह वहुस्या प्रजायेय" प्रकर्षापकर्षफल देने की इच्छा से मैं एक ही अनेक होऊँ यह जो सर्व सामान्य लौकिक इच्छा है इससे प्रवाह मार्गियो को लौकिक फलो की प्राप्ति होती है। लौकिक पशु पुत्रादि से लेकर स्वर्गलोक पर्यन्त के फल इन्हे मिलते हैं। *अर्थतयोः पथयोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यस कृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति* ।

इसीप्रवाह मार्ग के उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तीन फलहोकर मिलते हैं। उत्तम फल तो विविधस्वर्गो की प्राप्ति है। पर पुण्य के क्षय होने से फिर पुन यहा ही जन्म लेना पडता है। गतागत (जन्ममरण) छूटना नहीं है। यह वात *'एव त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना*

'*गतागत कामकामालभन्ते*—'*यजन्तेनाम यज्ञेस्ते*–"*यक्ष्ये दास्यामि*" इत्यादि भगवद्वाक्यों में स्पष्ट है। और मध्यम इस लोक के फल उत्तम स्त्री, पुत्र, पशु, क्षेत्र आदि फल मिलते हैं। पर गतागत (आवागमन) छूटता नहीं। और तीसरा 'अन्धतम' प्रवेश रूप फल मिलता है। यह '*अन्धतम' प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते* इत्यादि श्रुतियों में, तथा भगवद्गीता में भी—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम्॥

अज्ञानी आसुर, जन्म जन्म में आसुरी योनि को ही पाते रहते हैं और कभी भी अवतीर्ण मुझको प्राप्त न होकर नीचे से नीची गति को प्राप्त होते है। इत्यादि वचनों द्वारा भगवान् ने कहा है।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि जो वेदधर्म का अनुष्ठान करते हैं। इष्टा पूर्त दानादि धर्म करते हैं उन्हें आसुर जीव कैसे कहते हो। इसका उत्तर यह है कि यहा फल के द्वारा निर्णय किया है। भले वेदोक्त कर्म ही हो और चाहै उसका फल स्वर्गादि लौकिक उत्तम फल ही है पर गतागत आवागमनादि संसार चक्र जहां तक छूटता नहीं वहा तक वे आसुर ही हैं यह भगवान् ने गीता षोडषाध्यायादि में निर्णय कर दिया है—

प्रवाहादि तीनों मार्ग में आवेशी जीव होते हैं प्रवाहवेशी मर्यादावेशी और अनुग्रहावेशी। इन्हे "चर्षणी" शब्द से कहे है। चर्षणी भ्रान्त और अज्ञ जीव समान हैं।

सवन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथा परे।

चर्पणी शब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ॥

क्षणात्सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषा नकुत्रचित् ।

तेषा क्रियानुसारेण सर्वत्र शकल फलम् ॥

तीनो मार्गों से कुछ कुछ संबन्ध रखने वाले जीव और अधम कक्षा के जीव ये सब 'चर्पणी' आन्त शब्द से कहे जाते हैं। ये लोक सब मार्गों पर थोडी थोडी देर में फिरते रहते हैं पर इनकी वास्तव रुचि एक मार्ग पर रहती नहीं। उस अपनी क्षणिक रुचिके अनुसार तीनों मार्गीय जीव लौकिक वैदिक और भक्ति संबन्धी कर्म भी करते रहते हैं तथापि इतने मात्र से ये प्रवाही या मर्यादी या अनुग्रह मार्गी नहीं कहे जा सकते। इनके उस क्षणिक क्रिया के अनुसार सब मार्गों का कुछ टुकडा टुकडा फल मिलता रहता है। इसलिये दीखते हुए क्षणिक कर्म या क्षणिक फल पर से इन जीवों का स्वरूप निर्णय नहीं किया जा सकता। अत ये लोक आवेशी आसुर हैं।

अब दूसरे मर्यादा मार्गीय जीव हैं। इनमे वेदोक्त फल वैदिक कम के द्वारा या वेद के द्वारा मिलता है। वेद मार्ग मे भी कम के अनुसार उत्तमादि फल है। *'ये चेमे श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिरभिसंभवति'* *'ब्रह्मवेदब्रह्मैव भवति'* *'न सपुनरावर्तते'* *'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मब्रह्मविदोजना'* इत्यादि श्रुतिस्मृति वाक्यों में ब्रह्म प्राप्ति या मोक्ष रूप उत्तम फल कहा है और *'यनदु गेन ग्रसित न च ग्रस्तमनतरम् अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्व पदास्पद* इत्यादि "*क्रिया तेत भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल*" इत्यादि वाक्यों मे मध्यम फल मिलता है और *'प्रतितिष्ठति महानभवाते पूजया*

पशुभि' इत्यादि वाक्यों में मर्यादामार्गीय कनिष्ट फल कहा है।

अब रहा पुष्टि मार्ग सो इसमें भगवत्स्वरूप ही फल मिलता है, यह भगवत्स्वरूप भी तीन प्रकार का है या दो प्रकार का है। पहिला सर्वव्यापक अनवतीर्ण पुरुपोत्तम श्रीकृष्णादिशब्द वाच्य आनन्दमय भगवान्, और अवतीर्ण पुरुपोत्तम श्रीकृष्णादि शब्द वाच्य आनन्दमय भगवान् दूसरा। यदि मूर्तिरूप भगवत्स्वरूप को भी इनमे गिन लो तो तीन प्रकार हैं। पर मूर्ति भी भगवान् का अवतार ही है। इसलिये उसका भी द्वितीय स्वरूप में ही अन्तर्भाव है। अनुग्रहमार्ग में ये भगवान् ही फल मिलते हैं—

भगवानेवहि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।

गुणस्वरूपभेदेन तथातेषां फल भवेत् ।।

ज्ञानियो को अक्षर भगवान फल मिलता है। ज्ञानी लोग सर्वव्यापक अक्षर ब्रह्म मे मिल जाते हैं और ज्ञानी भक्तो को श्री पुरुपोत्तम सायुज्य फल मिलता है। सर्वव्यापक अनवतीर्ण पूर्ण पुरुपोत्तम के स्वरूप मे ज्ञानिभक्त मिल जाते हैं। '*ज्ञानी त्वात्मैव मेमतम्*' "*ते प्राप्नुवन्ति मामेव*" इत्यादि मे यह बात स्पष्ट है। किन्तु अनुग्रह मार्गीय भक्तो के अवतीर्ण पूर्ण पुरुपोत्तम श्रीकृष्ण, भक्तेच्छानुसार होकर फल मिलता है। जिस गुण की जिस स्वरूप की चाह भक्त के हृदय मे सर्वदा बनी रहती है और उसकी प्राप्ति के लिये जब उसे आर्ति होती है तब वह भगवान् उस स्वरूप और उन गुणो को ग्रहण कर भक्त के हृदय मे किंवा वृन्दावनादि लीला स्थानो मे प्रकट होते हैं और इस तरह उनकी इच्छानुसार

फल का दान करते हैं।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' 'तद्धैतान् भूत्वाऽवति' इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट है –

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'

'ये यथामां' इत्यादि।

श्रुतिस्मृतिवचनों के अनुसार जिस भक्त का भगवान् ने जिस मार्ग किंवा अधिकार में वरण (स्वीकार) किया है उन उन भक्तो की उन उन गुणों के द्वारा वैसे स्वरूप में ही अभिरुचि होती है। यह रुचि ही अनुग्रह का बीज कहा जाता है। *'बीज तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति'* यह बीज दृढ होता है। आगन्तुक आवरणों से भी इसका नाश नही होता। समय पाकर भक्ति वर्द्धिनी गीता किंवा भागवत शास्त्र की कही रीति के अनुसार यह बीज ही प्रीति, आसक्ति और व्यसन का रूप धारण करता है। उस समय सर्वत्र भगवान् ही भगवान की स्फूर्ति होती है। तब अनुग्रह के तारतम्य से भक्त के हृदय में किंवा बाहर चाहनानुसार भगवान श्री पुरुषोत्तम के ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, वामन नृसिंह आदि अनेक स्वरूप प्रकट होते हैं। श्री कृष्ण, श्रीराम श्रीवामन और श्रीनृसिंह ये चार स्वरूप अनुग्रह स्वरूप कहे जाते हैं जिन्होंने पुष्टि लीलायें की हैं वे पुष्टि स्वरूप कहे जाते हैं। निःसाधन जनोद्धार को पुष्टि-चरित्र कहते हैं। श्री कृष्ण के तो प्राय सबही चरित्र पुष्टिमय हैं। इस लिये श्रीकृष्ण पुष्टि के प्रधान स्वरूप हैं। अहल्योद्धार, सब कोशल देशको मुक्ति दान आदि श्रीरामचन्द्रजी के कार्य अनुग्रह सम्बन्धी हैं। स्तम्भ-प्राकट्य, वरार्जित हिरण्य कशिपुवध और मुक्ति, तथा आसुर

जन्म प्रह्लाद का उद्धार, आदि श्रीनृसिंह के पुष्टि चरित्र हैं। और श्रीवामनजी के भी नि साधन इन्द्र को त्रिलोकी दान और बलि पर कृपा आदि अनुग्रह कार्य हैं। यह सब अलौकिक रक्षा कार्य भी होने से पुष्टि हैं। अतएव पुष्टि मार्ग में इन सब का प्रादुर्भावोत्सव तनुजावित्तजा सेवापद्धति में मनाया जाता है।

मूल वासना किंवा मध्य कनिष्ठ वासनाओ के अनुसार कभी कभी किसी किसी भक्त में कोई दोष देखे जाते हैं, किन्तु भगवान् के हृदय में प्रवेश करने पर ये दोष दूर हो जाते हैं। भगवान् ही दोषों को दूर करते हैं। भगवान ही दोष धरें और भगवान् ही दोषों को दूर करें, यह खास पुष्टि मार्ग में ही है। अन्यत्र अन्यत्र कहा है कि—

निकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्धुनोति सर्वहृदिसन्निविष्टः। श्रीम०

प्रविष्ट कर्णरन्ध्रेणस्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलङ्कृष्णः सलिलस्ययथाशरत्॥ श्रीम०

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमाप्यस्य धर्मस्यत्रायते महतोभयात्॥

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि, न चिरात्पार्थ मय्यावेशितसाम्॥ गीता०

प्रवाह और मर्यादा से अन्यत्र भगवान् को भक्त के दोष सह्य नहीं होते। इसी का सार श्रीवल्लभाधीश ने इस तरह कहा है कि—

आसक्तौ गवानेव शोपंदापयति क्वचित्।

अहकारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनायहि ॥
न ते पापण्डतां यान्ति न च रागाद्युपद्रवा ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्र शुद्धत्वहेतवे ॥

लौकिक मे आसक्ति होजाने पर किवा अहकारादि दोप आजाने पर भगवान् ही उन्हें शापादि दिलवाकर नीचा गिरा देते हैं। तब वे ठोकर खाकर फिर उत्तम होते हैं, सम्हल जाते हैं। ऐसे लोग फिर पापण्डादि में नहीं फँसते और न उन्हें फिर राग, द्वेषादि सासारिक रोग उपद्रव नहीं होने पाते । वे बहुत करके बडे महानुभाव होकर रहते हैं। इसलिये भक्तो का कभी कभी नीचे गिरना और उनका दु.खी होना प्रभृति तो भगवान् की ही इच्छा से उन्हे शुद्ध करने के हेतु से होते हैं।

'*सर्वे चतुर्बाहव.*' इत्यादि वचन, तथा '*जगद्‌व्यापारवर्जम्*' आदि न्याय के अनुसार भगवद्‌भक्त भी भगवान् के सदृश ही होते हैं, उनके स्वरूप देह क्रिया गुण आदि सब भगवद्‌रूप ही होते हैं। उनकी सृष्टि केवल भगवत्स्वरूप की सेवा करने के लिये ही होती हैं। जैसे श्रीराम के सेवा के लिये श्रीलक्ष्मण का प्रादुर्भाव और श्रीकृष्ण की सेवा के लिये श्रीबलदेवजी का प्राकट्य । अतएव इन्हे शेपावतार कहा हे। सेवा के लिये ही जिसका जन्म वह शेप '*शेप परार्थत्वात्*' और वैसे भी ये दोनों शेपजी के अवतार हैं ।

यहा एक यह प्रश्न हो सकता है कि सेव्य– सेवक भाव कुछ भेद भाव मे ही हो सकता है अभेद मे नहीं। जब भक्तो के स्वरूप देहादि मे कुछ भी भेद नहीं है तो फिर सेव्यसेवक भाव कैसा ?

इसका उत्तर इस तरह है—

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि॥

भगवान् के भक्तों का भी सेवा के लिये भगवान् के साथ ही अवतार होता है। यह सब भागवतादि शास्त्रों में कहा है कि—

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
ऋषयोपि तदादेशात्कल्प्यन्तां पशुरूपिणः।
पयोदानमुखेनापि कृष्णं तर्पयितुं सुराः॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥
विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥

वसुदेव के घर में भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम पैदा होंगे, उनका प्रिय करने के लिये देव स्त्रियां भी पैदा होवें। ऋषि लोग भी गौ प्रभृति पशु रूप में जन्म लें और उन्हें दुग्धादि के द्वारा तृप्त करने के लिये देवगण भी ग्वालियों में पैदा हों। यह भगवान् का आदेश है। शेषावतार वासुदेव कला भगवान् संकर्षण भगवान् के निज सेवा के लिये पहिले से प्रकट होंगे और भगवान् की माया भी गुप्त कार्य करने के लिये पैदा होगी। इत्यादि—

भगवद्भक्त और भगवान् का स्वरूप सच्चिदानन्दघन रहता है। इनका अवतार भी सत्वाधिष्ठान (देह) में होता है।

दोनों के चिन्ह भी ध्वज वज्रादि समान ही रहते हैं। सौकुमार्य ऐश्वर्य आदि गुण भी समान होते हैं। सब कुछ अभेद ही रहता है, तथापि जितने भेद से अपनी क्रीड़ा और सेव्य-सेवक भाव बना रहे, उतना स्वरूप देह और क्रियाओ का विभेद तो रहता रहा है। भगवत्लीला अनन्त हैं, उनकी लीलाओं के अनुरोध से भगवान् और भक्तो के भी स्वरूप गुण देह क्रिया आदि में भी अनन्त भेद होते रहते हैं और यह भेद "प्रजायेय" इस भगवद्वासना का ही एक अंश है।

जीव देह क्रिया गुण और भगवान् और भक्तों के भेद वाला यह अनुग्रह मार्ग सारे धार्मिक जगत् में फैल रहा है। कितनी ही गप्पाष्टक मण्डली यह करती हैं कि वल्लभ सम्प्रदाय के श्रीकृष्ण इसके ही भक्त, इसकी ही लीला, इस ही की रीति-रिवाज मे अनुग्रह मार्ग है, अन्यत्र कहीं अनुग्रह (पुष्टि) मार्ग है ही नहीं। यह सर्वथा गप्पाष्टक है। भगवान् श्री पुरुषोत्तम सामान्य हैं। उनका प्रादुर्भाव श्रीकृष्ण, सर्व भक्त सामान्य हैं, उनका अनुग्रह सामान्य हैं, उनकी लीलायें सब के प्रति सामान्य हैं और श्रीकृष्णादि के भक्तभी सामान्य हैं और श्रीवल्लभाचार्यके वचन भी सामान्य हैं, फिर किस विशेष को लेकर कहा जाता है कि अन्य मार्गो मे अन्य धार्मिक जनता में पुष्टि मार्ग है ही नहीं। हां! इस मार्ग का प्रथम प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ने किया यह सब सर्वप्रत्यक्ष है,किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीवल्लभाचार्य के पहले या उनके बाद अन्य सम्प्रदायो मे पुष्टि मार्ग है ही नहीं। क्रीड़ा और अनुग्रह के अनुरोध से पुष्टि मार्ग है। भगवत्क्रीड़ा और भगवदनुग्रह दोनों सामान्यहैं। इस सामान्यमे अनेक

विशेष हैं, यह बात दूसरी है। अतएव श्रीवल्लभ सम्प्रदाय भी एक विशेषानुग्रह का दृष्टान्त है। ब्राह्मण मे गौड़ भी हैं, द्रविड भी हैं। सामान्य अनुग्रह मार्ग में अनेक विशेषानुग्रह हैं। अमेयानन्त सच्चिदानन्द श्री पुरुषोत्तम सामान्य है, सर्व व्यापक है। उसमें ही उसके आविर्भाव अवतार आवेश और उनके विशेष नृसिंहादि, अनेक विशेष समा रहे हैं। श्रीपुरुषोत्तम का साक्षात् आविर्भाव श्री कृष्ण हैं और वह किसी अंश से हैं। इसलिये विशेष भी हैं। दोनों एक रहते भी क्रीड़ानुरोध से श्रीकृष्ण में विशेषता है। अतएव उनकी लीला उनके भक्त, उनके चरित्र और उनका अनुग्रह भी विशेषता रखता है, यह बात दूसरी है और इसका कारण भी है। श्री वल्लभाचार्यजी सब से अन्तिम मूलाचार्य प्रकटे हैं। अतएव उन्हें सब भगवच्छास्त्र और सब आचार्यों के सिद्धान्तों का मनन और ऊहापोह करने का अच्छा अवसर मिला। अतएव उन्होंने सब शास्त्र और सब सिद्धान्तों का खूब विचारकर भगवदाज्ञा के अनुसार यह पुष्टि मार्ग इस रूप में प्रकाशित किया है। श्रीवल्लभाचार्य ने भी जो कुछ कहा है, वेदादि शास्त्रों को देखकर ही तो कहा है और उन शास्त्रों मे ही यह पुष्टि मार्ग स्थित है। तब फिर वैदिक धार्मिक अन्य मार्गों में पुष्टि मार्ग नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं। उनकी तो यह प्रतिज्ञा है कि—

वेदोक्तादणुमात्रेपि विपरीत तु यद्भवेत्।
. ...मूलतोमृषा।

इसी आशय से श्रीवल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग के दो भेद किये हैं। शुद्ध औरमिश्र। ज्ञान कर्म भक्ति की तरह जब पुष्टि

ाह और मर्यादा तीनों का मिश्रण होता है, तब ये तीनो मार्ग हे जाते हैं। कृति साध्यता के बिना मार्ग नहीं कहे जा सकते। त क्रिया,चित ज्ञान आनद भक्ति,ये तीनों मार्ग नहींहैं। अस्तिमे तिसाध्यता नहीं, चित में भी वह नहीं और आनन्द या प्रेम में ो कृतिसाध्यता नहीं। शुद्ध अवस्था मे तीनों भगवद्धर्म हैं। ागवद्धर्म में कृतिसाध्यता नहीं है। तीनो जब नियत मात्रा में नश्रित होगे, तब मार्ग कहे जायेंगे। यही भगवद्गीता मे नपूर्वता है। ज्ञान कर्म और प्रेम तीनो का मिश्रण वताकर एक ा तीन पृथक् मार्गों का निरूपण करने वाली गीता है। भक्ति ादि मार्ग है तो अवश्य इसमें ज्ञान और क्रिया होनी ही ाहिये। अस्तु ! इसी तरह पुष्टि प्रवाह और मर्यादा तीनों शुद्ध प्रवस्था मे भगवद्धर्म है। पर जव मिश्र अवस्था में आते हैं, तब जीव धर्म होते हैं। भक्ति या पुष्टि इस तरह जीव का स्वधर्म है।

"स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य क्वापि कदाचन"

शुद्ध पुष्टि एक प्रकार की है और वह भगवद्धर्म है और उसका विशेष कर नवम और दशम मे निरूपण है। उनमें भी शुद्ध प्रेममय भक्ति का तो दशम मे ही निरूपण है और उसके स्वाम अधिकारी श्री गोपीजन हैं। पुष्टि भगवन्निष्ठ धर्म है। भगवदीय श्रीगोपीजन भी भगवान् का ही रूपान्तर हैं। अतएव शुद्ध पुष्टि श्री गोपीजन निष्ठ भी है और इसी लिये अन्यत्र उसका निषेध करते हुए कहा है कि—

"शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभा।
भक्ति स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते ॥"

मिश्र पुष्टि मार्ग तीन तरह का और फिर नव प्रकार का है और अनन्त भी। पुष्टि आदि त्रिधर्म युक्त पुष्टिमार्ग तीन प्रकार का है और इसी तरह पुष्टि आदि त्रिधर्म युक्त प्रवाह और मर्यादा मार्ग भी तीन-तीन तरह के हैं। पर हमें पुष्टि के सिवाय प्रवाह आदि के भेदों से उतना यहां मतलब नहीं है। इसलिये तीन ही भेदों का यहां विवरण संक्षेप में किये देते हैं। शुद्ध पुष्टि मार्ग उद्देश्य मात्र है। विधेय नहीं, किन्तु मिश्र पुष्टि मार्ग विधेय है। इसलिये उनका निरूपण करना उचित है। मिश्र पुष्टि मार्ग (पुष्टि मिश्र पुष्टि मार्ग, प्रवाह मिश्र पुष्टि मार्ग और मर्यादा मिश्र पुष्टि मार्ग) यो तीन प्रकार का है। अनुग्रह ही किसी न किसी तरह से भगवान् का सम्बन्ध दिखा रहा है। नि सम्बन्ध अनुग्रह नहीं होता। भगवान् का अनुग्रह जीव पर है, यह वाक्य कह रहा है कि भगवान् का और जीव का कुछ न कुछ सबन्ध है। ये सम्बन्ध अनन्त प्रकार के है। शास्त्र में थोडे सम्बन्ध गिनाये हैं—

काम क्रोध भय स्नेहमैक्य सौहृदमेव च।
नित्य हरौ विदधते यान्ति तन्मयता हि ते॥
कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मन.।
आवेश्यतदघ हित्वा बहवस्तद्गतिं गता.॥
गोप्य. कामाद्भयात्कंसो द्वेषा च्चैद्यादयो नृपा.।
सम्बन्धाद्वृष्णय: स्नेहाद्यय भक्त्यावय विभो.॥
तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेनवा।
स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात्कथ चिन्नेक्षते पृथक्॥भाग०॥

कामना मात्र का मम्बन्ध, क्रोधादि से सम्बन्ध, भय के

किन्तु अनुग्रह बल से ही उनका उद्धार होता है। अतएव अनुग्र मार्ग में सबकुछ साधन हो भी सकते हैं और कुछ भी साधन न भी। अतएव साधनों के तरफ अश्रद्धा रखते हुए कहा गया है कि

तस्मात्केनाप्युपायेन मन· कृष्णेनिवेशयेत् ।

और इसी आशय को मनमें रखकर सुबोधिनी कहा है कि—

सर्वएवहरेर्भक्तास्तुल्यायांमन्यते हरि· ।
अत कृष्णो यथाऽऽत्मीयांमन्यते भजन तथा ॥

पूर्वोक्त मार्गों के भक्तों को सिद्ध समय में सर्वात्मभ होता है। किसी को वैर से, किसी को भय से और किसी प्रेम आदि से, किन्तु मार्ग की परिपाक अवस्था में सब सर्वात्मभाव होता है। यही कहा है कि—

आसीन· सविश स्तिष्ठन्भुञ्जान· पर्यटन्महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मय जगत् ॥

कंस बैठा हुआ, सोता हुआ, खडा रहकर, भोजन कर पृथ्वी पर चलता हुआ अर्थात प्रतिक्षण श्रीकृष्ण का ही स्म करता रहता था। अतएव थोडे समय में उसे सारा ज कृष्णमय दीखने लगा। भिन्न सम्बन्धों से तैयार हुए सर्वात्मभ

सर्वोप्यात्मनो भाव. (पतिपुत्रसुहृत्आदि) यह सर्वात्मभाव प्रेमोद्गत होने से भिन्न है। किन्तु स्नेह भक्ति सौहृद और ज्ञान संवन्धि सर्वात्मभावों को छोड़कर अन्य सर्वात्मभाव आत्मीय नहीं कहे जा सकते। जिन भावों को भगवान् आत्मीय माने वे ही भाव कर्तव्य हैं। अतएव प्रायः पुष्टिमार्ग शब्द से वे ही भाव या सम्बन्ध विशेष कर लिये गये हैं। और इसी आशय से श्लोक के उत्तरार्ध में कहा है—

अतः कृष्णो यथात्मीयान् मन्यते भजन तथा।

सब ही अनुग्रह मार्ग हैं, किन्तु जिन भावों को भगवान् आत्मीय मानें, उन भाव प्रकारों को ग्रहण कर भजन करना उचित है। भगवान् का कौन हैं और किस पर भगवान् का अनुग्रह है, अन्धकार में हैं, देव गुह्य है। भगवान् अपने अनुग्रह को देव गुह्य ही रखना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् को 'परोक्षं च मम प्रियम्' परोक्ष (छिपी हुई बात) प्रिय लगती है। वेद में भी कहा है कि "परोक्षप्रिया ह वै देवा." देवगण छिपी हुई बात को पसन्द करते हैं। अनुग्रह की खबर फल से ही होती है।

यहा एक यह आशंका होनी है कि जब निन्दा स्तुति, प्रेम, वैर, पूजा, युद्ध सब ही साधन असाधन समान हैं, अनुग्रह ही बलवान है, तो फिर निन्दा करने वाले भी भक्त पुष्टिमार्गीय कहे जा सकते हैं, यह तो बड़ा अनर्थ होगा। आज कल के जो श्रीकृष्ण को निन्दा करते रहते हैं, वे भी भक्त हैं, अनुग्रह मार्गीय हैं! अवश्य हैं!! यदि निन्दा करते करते ही वैर करते रहते ही उनका मन श्रीकृष्ण में ही फँसा रहता हो। अन्यत्र कहीं मन

लगता ही न हो। पर सो है, नहीं । वे तो खासा संसारी हैं। क्योंकि थोड़ी देर निन्दा करके फिर अपने संसार व्यवहार मे संलग्न हो जाते हैं। ओ थोड़ी देर किसी अपने मतलब के लिये भगवान् की निन्दा करके या वैर करके अपने ससार व्यवहार में लगे रहते हो, वे भक्त नहीं, वे तो असुर हैं । प्रथम तो ऐसे मनुष्य ईश्वर या श्रीकृष्ण को मानते ही नहीं। वे तो नास्तिक होते हैं। इस प्रकरण में उनकी तो कोई गणना ही नहीं । अतएव श्री नारद ने कहा है कि—

कतमोपि न वेन' स्यान् पञ्चानां पुरुष प्रति ।

भगवान् की निन्दा करने वाला वेन राजा पूर्वोक्त पांच प्रकार के भगवदीयों में से एक भी नहीं था, वह तो पूरा असुर था । न वो भगवान् को मानता था और न उसका मन निन्दा के वहाने भी भगवान् में निरन्तर लगता था। इसलिये ऐसे मनुष्य तो नरकगामी होते हैं। वेनके तो ये वचन थे—

को यज्ञ पुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदशी ।

अरे मूर्खो ! वह यज्ञ पुरुष भगवान है कौन ? जिसमें तुम्हारी भक्ति ऐसी टप की पड़ती है। इसलिये आज कल के निन्दक तो असुर हैं।

भगवान ने यथा जिस रीति से यस्य-जिसका स्वीकार किया है, उस पर उसी प्रकार का अनुग्रह करते हैं । उसकी भगवान् में अभिरुचि भी उसी प्रकार की होती है और उसको फल भी उसी प्रकार के गुण और स्वरूप के द्वारा मिलता है।

" इन्हें मेरा तत्व ज्ञान हो " इस तरह जिनके विषय में भगवान की अभिध्या–वासना (विचार) हुई है, वे पुष्टि मिश्र पुष्टिभक्त होते हैं। भक्ति होने का कारण एक अनुग्रह तो उन पर सर्व सामान्य रहता ही है, किन्तु उससे भी विशेष दूसरा अनुग्रह और होता है, जिसके द्वारा उन्हें "इदमहं स." तत्व आत्मा और भगवान् इन तीनों का साक्षात्कार होता है। भगवदवयन देव रूप २८ तत्त्व, शुद्ध चैतन्य आत्मा, और क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम का उन्हें यथार्थ अनुभव होता है। अतएव वे सर्वज्ञ होते हैं। इन्हीं के लिये भगवान् ने आज्ञा की है कि *'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत'* *'भक्त्या मामभिजानाति यात्वान् यश्चास्मि तत्त्वतः'*। *'कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः'*। त्रिविध ज्ञान मिलकर भगवत्स्वरूप ज्ञान कहा जाता है। ये ही सर्वज्ञ हैं। यह बात समाधि भाषा में इस प्रकार कही है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण ।
सुदुर्लभ. प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

जो तत्त्व आत्मा और भगवान् के साक्षात्कार को प्राप्त हो चुका। अतएव सर्व दुःख और सर्व दोषों से मुक्त. ऐसे भक्तों में भी नारायण परायण, अर्थात् श्रीकृष्ण को ही अपना उपायोपेय (साधन फल) जानता तो और प्रशान्त अन्तःकरण हो, हे महामुने! ऐसा पुष्टि भक्त तो करोड़ों में भी कोई एक कठिन से मिलता है। श्रीनारद ऋषभादि ऐसे भक्त हैं।

' ये मेरी पचरात्रोक्त उपासना में तत्पर रहें '

इस प्रकार से जिन पुष्टिस्थ जीवों के लिये भगवान् ने

विचार किया है, वे भक्त प्रवाह मिश्र पुष्टिजीव हैं । पंचरात्र आदि भगवद् तन्त्रों में भगवान् की उपासना कही है। इन्हें कहीं कहीं भगवद्धर्म और भागवत क्रिया भी कहा है। तदनुसार जो भगवत्सम्बन्धिनी क्रिया नारायणोपासना करते हों, वे प्रवाह मिश्र पुष्टिभक्त हैं। अपने कर्तव्य में वेदादि शास्त्र की विधि को प्रमाण मानकर जहाँ भगवान् के लिये उपचार समर्पण किया जाय वह उपासना। इसके उदाहरण श्रुतदेव आदि हैं।

और जिन पुष्टिमार्गीय जीवोंके विषयमें भगवान्ने यह विचार किया है कि '*मेरे गुणोंका यथार्थ स्वरूप ये जानले*' वे भक्त मर्याद मिश्रपुष्टि भक्त हैं। भगवान्में सत्त्वादि गुण हैं ऐश्वर्य वीर्य आदि गुण हैं, और सृष्टिकर्तृत्व आदिभी गुण हैं ही। पर उनका स्वरूप कोई सा ही जानता है। सब लोग सत्त्वादि गुणों को प्रकृति के मानते हैं, भगवान् के नहीं। ऐश्वर्य आदि को भी प्राकृत समझ रहे हैं, और जगकर्तृत्वादि को भी सासारिकसा ही जानते हैं। पर जिन पर प्रभुका अनुग्रह विशेप होता है, वे भक्त इन गुणों को भगवान् के जान जाते हैं। और उनका यथार्थ स्वरूप उन के हृदय मे प्रकाशित हो जाता है। ये मार्यादिक भक्त भी क जाते हैं। ऐसे भक्तों में भीष्म आदि की गणना है। भीष्म भगवान के ऐश्वर्य के स्वरूप को जानकर कहा है कि—

मुनिगणनृपवर्य सकुलेऽन्त सदसि युधिष्टिरराजसूय एपाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशि गोचर एप आविरात्मा ॥

अस्तु, अब रहे शुद्ध पुष्टिभक्त, सो तो अति दुर्लभ हैं शुद्ध पुष्टिभक्त सर्वदा प्रेमप्लुत होते हैं । इनके देहादि

ानन्दमय होते हैं। इनका आविर्भाव (जन्म नहीं) कचित् ारस्वत कल्पादि में ही होता है। कलियुग में इनका होना ाति दुर्लभ है। इनका मार्ग, इनके आचरण, ऐश्वर्य युक्त होने उद्देश्य हैं, विधेय नहीं। मुख्य भगवत्प्रेम का स्वरूप कुछ २ मारे भी समझ में आजाय, इस आशय से शास्त्रों में इनके रूप आचरणों का निरूपण आता है। इनके स्वरूप और ,णों का इस तरह वर्णन है—

ये दारागार पुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिम परम।
हित्वा मां शरण याताः कथ त्तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

जो मेरे प्रेमी अपने स्त्री पुत्र गृह मित्र एवं प्राण, धन लोक और परलोकादि सब का परित्याग कर केवल मेरे ही रण गये हैं, उन्हें मैं छोड़ देने की इच्छा भी कैसे कर सकता । कहिये कोई ऐसा है?

विसृजति हृदय न यस्य साक्षात्
हरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः॥
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
सभवति भागवतप्रधानउक्त.॥ भा० ११॥

जिस भगवान् का नाम चाहें किसी तरह से भी लिया हो, पर पापों के प्रवाह का भी नाश कर ही देता है। वह त् श्रीकृष्ण भगवान् जिसके हृदय में आकर वहां से जाना चाहें, क्योंकि प्रेम की डोरी से भगवान् के दोनों चरण रक्खे हैं। वह ऐसा भक्त सब भगवदीयों में प्रधान गया है।

एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः ।
हित्वा कृष्णे पर भाव गत. प्रेमप्लुतः सदा ॥

यहां एक यह विचार उत्पन्न होता है कि शुद्ध पुष्टिभक्तों में प्रेम ही प्रेम होता है। भगवन्माहात्म्य का ज्ञान तो होता नहीं। इसलिये ये ज्ञानी भक्त प्रभृति की अपेक्षा कुछ निकृष्ट होते होंगे ? इसका उत्तर इतना ही है कि प्रेम के आगे ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं है। ज्ञान शेप है और प्रेम शेपी है। प्रेम के लिये ज्ञान है। जव भगवदनुग्रह से प्रेम ही प्राप्त होगया तो फिर ज्ञान को अपेक्षा ही क्या है। ज्ञान भगवान् तक वडी कठिनता से पहुँचता है और सब तरह से पहुचता है या नहीं यह सदेह है। श्रुति कहती है कि—

'अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम्'

वास्तव मे जो ब्रह्म को जानने की हामी भरते हैं,समझ कि उन्होने उसे नहीं जाना और जो कहते हैं कि अभी हम नहीं पहिचाना वे वास्तव में उसे जान गये हैं। देखा जाय त भक्ति का लक्षण प्रेम है ज्ञान नहीं।

'स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा'।पचरात्र
'सा परानुरक्तिरीश्वरे' शा० सू०

प्रेम ही भक्ति कहा जाता है, जिनमे प्रेम ही पूर्ण मात्रा है, वे सर्व श्रेष्ठ भक्त कहे जाते हैं।

कितने ही यहा यह भी प्रश्न कर उठते हैं कि यह निश्चय है कि पापो के विना दु ख नहीं होते और यह भी दे

गया है कि अनुग्रह मार्गीय भक्तों पर भी अनेक बार दुःख आये हैं। क्या द्रौपदी आदि के दुःखों का इतिहास सब को मालूम नहीं है? इससे स्पष्ट होता है कि भक्तों में भी पापों की सत्ता रहती है। और जब उनमें भी पाप रहते हैं, तो वे भी अन्य जीवों की तरह निकृष्ट ठहरते हैं। ठीक है!! यह प्रश्न मिश्रपुष्टि-मार्ग पर हो सकता है। शुद्ध पुष्टिमार्ग पर यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि सुख दुःख का स्वरूप बाह्य नहीं है, आन्तर है। सुख दुःख का स्वरूप बुद्धि के विशेषों पर निर्भर है। सारा जगत् भगवन्मय होने से आनन्दमय ही है. पर जहां आनन्द का तिरोभाव रहता है, उसे प्राकृत बुद्धि दुःख ग्रहण करती है। वस्तु में भला बुरापन नहीं है, बुद्धि के विशेषों में है—

न रम्यं नाऽरम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्वं यत्र स्यादितरदपि तद्ग्राहकवशात्।
रथाङ्गाह्वानानां भवति विधुरङ्गारशकटी,
पटीराम्भः कुम्भः सभवतिचकोरी नयनयोः ॥

जगत् में कोई भी पदार्थ अपने अपनपे से न तो प्यारा होता है और न कुप्यारा ही होता है। जो प्यारा पदार्थ है, वही कभी ग्राहक को वैसी बुद्धि के सामने आकर कुप्यारा भी हो जाता है। चकवा चकवी की दृष्टि में चन्द्रमा, गरमी में जलती आग की अँगीठी मालूम देती है, पर वही चन्द्रमा चकोरी की दृष्टि में शीतल चन्दन की मटकी हो जाता है। जैसे ग्राहक वैसा पदार्थ। सुख दुःख का हाल यही है। इसका पूर्ण विवेचन हमने अपने "पाप पुण्य के निर्णय की रीति" नामक ग्रन्थ में करा दिया है, पर यहां इतना ही समझ लेना ही बस है कि सांसारिक

सुख दु:ख कोई नियत नहीं हैं। तथापि हम मानते हैं कि पुष्टि-मार्गीय भक्तों पर भी दु:ख आते हैं। अभावकृत नाशकृत और शापकृत दु:ख भक्तो पर भी आये हैं, आते हैं। इन दु:खों के फिर तीन तीन भेद और हैं। आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक। इस विषय का भी पूरा विवेचन हमने अपने श्रीकृष्णाश्रय ग्रन्थ में कर दिया है श्रीवल्लभाचार्य ने इस पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रन्थ मे ही इसका भी उत्तर इस तरह दे दिया है—

आसक्तौ भगवानेव शाप दापयति कचित्।
अहकारेऽथवा लोकेतन्मार्गस्थापनाय हि ॥
न ते पापण्डतां यान्ति न च रागाद्युपद्रवा.।
महानुभावा॰ प्रायेण शास्त्र शुद्धत्वहेतवे ॥

"प्रभुता पाय काहि मद नाहि" इस न्याय से जब कभी अनुग्रहीत भक्तों के हृदय में अहङ्कार मद या गर्व आ जाता है, अथवा उन्हें लौकिक आसक्ति हो जाती है पापण्ड आ जाता है अथवा राग द्वेषादि उपद्रव उन्हें सताने लगते हैं, तब भगवान् ही उनकी शुद्धि होने के लिये, वे अपने मार्ग में स्थिर रहे आवें, इसलिये उन्हें शाप आदि दु:ख पहुँचाते हैं। यह आधिदैविक दु:ख कहा जाता है, पर यह दु:ख भगवान् के अनुग्रह में ही गिना जाता है। विद्याग्रहण कराने के लिये जो विद्यार्थी को गुरू मारता है, वह उस पर अनुग्रह है। अपराध का दण्ड जो न्यायाधीश देता है, वह उसकी शुद्धि के लिये है। अतएव अनुग्रह है। नलकूबर की लौकिकाशक्ति देखकर भगवान् ने उन्हें श्रीनारद के द्वारा शाप दिला दिया। चित्रकेतु और परीक्षित को जब अहं भाव आ गया तो भगवान् ने उन्हें श्री पार्वती और ऋषि बालक के द्वारा शाप दिला दिया। यह शाप उनकी निकृष्टता द्योतक नहीं हैं, किन्तु उन की योग्यता

प्रकाशक है। शाप हो जाने पर उनकी भक्ति दुगनी चौगुनी होगई। रागादि उपद्रव भी उन्हें फिर नहीं सताते, फिर वे अपने मार्ग में दृढ़ हो जाते हैं। यह शाप तो उनकी शुद्धि होने के लिये दिया जाता है। अतएव अनुग्रह है, दुःख नहीं। प्रत्युत परोक्ष भजन है।

अभावकृत दु ख भी भक्त की भक्ति दृढ़ हो जावे,इसलिये परीक्षार्थ भगवान् के तरफ से भी आते हैं। कभी कभी भक्तों के हृदय में भगवान् का आश्रय अविवेक से ढीला पड़ जाय, ऐसा समय आता है। भगवत्सेवा करते रहते भी भगवत्सेवा के लिये ही जब भक्त को धन, स्त्री, पुत्र आदि का अभाव होता है या ये वस्तु नष्ट हो जाते हैं, तो ये अभावकृत दु ख और नाशकृत दु ख भगवान् के आश्रय को ढीला कर देते हैं। ऐसे समय भगवान् देखना चाहते हैं कि देखें इसके हृदय में विवेक और धैर्य है या नहीं या इनकी कितनी मात्रा है, यह परीक्षा करने के लिये दुःख देते हैं इस परीक्षा में पास हो जाने पर भगवदाश्रय सुदृढ़ हो जाता है—

सर्वत्र तस्य सर्वंहि सर्वसामर्थ्यमेव च।
विवेकस्तु हरि. सर्वं निजेच्छात· करिष्यति।
त्रिदुःखसहन धैर्यमामृते. सर्वतः सदा॥

भगवान् सर्व समर्थ हैं, उनके यहां कमी भी किसी बात की भी कमी नहीं है। मुझ पर उनकी पूर्ण कृपा भी है ही और मेरे अभावादि दु.खो की भी उन्हे खबर है. वे सर्वज्ञ हैं तथापि जो मेरे अभावों की पूर्ति नहीं करते इसमें अवश्य उन्होने मेरा

ही कुछ भला विचारा है। उन्हें जब मेरे अभावों की पूर्ति करना होगा, तब वे अपने आप ही कर देंगे।

'तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः'

इसमें मेरा विचार करना निकम्मा है। इसका नाम विवेक है। विवेक के अभाव में अभाव कृत दु.ख आश्रय को शिथिल बनाते हैं। विवेक होने से आश्रय दृढ़ हो जाता है । यही बात धैर्य के विषय में भी है। धैर्य के द्वारा दुःखों का सहन करने से भगवदाश्रय शिथिल नहीं होने पाता। प्रत्युत भक्त लोग तो धैर्य की परीक्षा के लिये दु खों की चाहना करते हैं।

विपद: सन्तुन शश्वत्तत्र तत्र जगदगुरो ! ।
भवतो दर्शन यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।

हे भगवन् जहा जहा हम जावें, वहा वहा पर विपत्ति ही गिरतीं रहें, क्योंकि कभी न कभी तो आप विपत्ति दूर करने के लिये ही पधारकर दर्शन देंगे, जिससे कि फिर हमे ससार का मुख न देखना पडे। इसलिये दु खों को दृष्टि से भी अनुग्रह-मार्ग निकृष्ट नहीं हो सकता।

पुष्टिमार्ग विश्व व्यापक धर्म है। सारे जगत का एक धर्म होने लायक यही अनुग्रह मार्ग है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म की मर्यादाओं को ताडकर, वेद शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म का त्याग करके। पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रथ यद्यपि अधूरा है तथापि इसमे वर्णाश्रम धर्म का त्याग करने का कोई भी वचन नहीं है। पुष्टि मार्ग में यदि वर्णाश्रम धर्म त्याग करने का आवश्यक होता तो अवश्य वह भी ग्रन्थ मे होता। जिसमें अवश्य कर्तव्य

ही न लिखा हो, वह उस विषय का ग्रन्थ ही कैसे कहा जाय। बात कुछ दूसरी ही है—

दुनियां में गप्पाष्टक मण्डली बहुत हैं। अनेक रूप धारण कर यह सब धर्मों में घुसी हुई हैं। समय और दु शिक्षा के प्रभाव से कितने ही लोगों को धर्म की मर्यादायें अच्छी नहीं लगती। वे लोग इस तरह के गप्पाष्टक छोडा करते हैं। सब से पहले बम्बई में एक ब्रदरहुड(प्रीति भाजन) हुआ। उसमें ब्राह्मण, बनिया ढेड़ चमार सब साथ भोजन किये। उसमे सम्मिलित होने वाली एक गप्पाष्टक मण्डली ने अपने उस कार्य को औचित्य देने के लिये कहा कि " बल्लभ मत मे भी जाति पाति का भेद नहीं है।"

इसके बाद कांग्रेस पथी गप्पाष्टकियो ने बल्लभ मत पर इशारा करके यह बात उठाई कि असल वैष्णव वह हैं, जो छूआछूत नहीं मानता और इसमे नरसी महेता को दृष्टान्त दिया। कुछ समय के बाद कितने ही सनातन धर्मी गप्पाष्टक धर्मियों को भी यह कहने का साहस हुआ कि 'ईश्वर के भक्ति मार्ग में जाति पाति छूआछूत की विघ्न बाधा नहीं है। और इस अपने सिद्धान्त में "स्त्रियोऽन्त्यजा." आदि वचन प्रमाण लिख मारे। अब थोड़े दिन से कुछ बल्लभ मतानुयायी गप्पाष्टक मण्डली भी कहने लगे हैं कि "श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त से तो वर्णाश्रम धर्म बहुत पहले से ही मर चुका है, तब उसके पालन करने कराने का आग्रह क्यो किया जाता है"। 'खास पुष्टिमार्गीय वैष्णवो का तो वर्णाश्रम धर्म किंवा सनातन धर्म के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं

मेरी समझ में तो यह इनका समझना और कहना भूल है। यदि ये लोग यह कहते हो कि हम क्या करे, पूर्वोक्त बचन ही ऐसे हैं, जिनके द्वारा स्पष्ट विदित होता है कि पुष्टिमार्ग या भक्ति मार्ग में वर्णाश्रम धर्म अनुपयोगी है। पुष्टिमार्ग से वर्णाश्रम धर्म का कुछ सम्बन्ध नहीं है, तो यह भी कहना इनका भूल ही है।

इस तरह कहने वालों से पूछा जाय कि ये बचन क्या आज के बने हुए हैं ? ये तो वे भी मानते होगे कि पूर्वोक्त बचन पुराने हैं। तो फिर हम पूछते हैं कि प्राचीन पुष्टिमार्गीय आचार्य, विद्वान् या किसी समझदार वैष्णव को नहीं सूझा कि पुष्टिमार्ग में जब स्पष्ट ही वर्णाश्रम धर्म का पालन करने का निषेध है तो हम इस झगडे में क्यों गिरते चले जा रहे हैं। सब के सब ही आज तक वर्णाश्रम धर्म का पालन क्यों करते चले आये ? वर्णाश्रम धर्म का पहला धर्म जातकर्म, नाम कर्म है। यह सबके ही होता चला आ रहा है। वेदाध्ययन यज्ञोपवीत संस्कार भी वर्णाश्रम धर्म है, क्या ऐसा कोई आचार्य या पुष्टिमार्गीय विद्वान ब्राह्मण या ग्रहस्थ हुआ है, जिसके ये संस्कार नहीं हुए हो। विवाह तो प्राय. सब ही पुष्टिमार्गियो म होता है और यह वैदिक संस्कार है, वर्णाश्रम धर्म है, और आज तक किसी पुष्टि-मार्गीय बनिये ने कठो वन्ध किसी चमार की कन्या क्यों न व्याही। किसी आचार्य किंवा ब्राह्मण ने बनिये की लडकी आज तक नहीं व्याही है. किसी आचार्य, ब्राह्मण किंवा भटिया या पुष्टिमार्गीय बनिये के यहा सर्व साधारण रीति से चारो जाति को एक साथ बैठकर सखड़ी भोजन करते देखा है। और ऐसा

क्यो नहीं होता ! क्या यह वर्णाश्रम धर्म नहीं है। प्राय सब ही पुष्टिमार्गीय आचार्य किंवा ब्राह्मण विद्वान् सन्ध्यावन्दनादि करते चले आरहे हैं। मन्दिरो मे जो स्पर्शास्पर्श आदिकी व्यवस्था चली आ रही है, वह भी वर्णाश्रम धर्म की ही मर्यादा है। अपरस की रक्षा के लिये वैदिक शास्त्रों को छोड़कर पुष्टिमार्गीय स्वोपज्ञ शास्त्र कौनसा है ? आज तक पुष्टिमार्ग में प्रायः सब ही वैदिक मर्यादायें यथा शक्ति यथाधिकार रक्षित होती चली आ रहीं हैं।और इसका श्रेय प्राचीन आचार्यों को है। अब कैसे कहा जाय कि पुष्टिमार्ग में वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो चुका है। श्रीवल्लभाचार्य ने यज्ञ किये, उनके पुत्रों ने किये, और बहुत से आचार्यों ने भी किये होगे, क्या इसका अर्थ यह है कि पुष्टिमार्ग में वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया। क्या सब ही पुष्टि मार्गीय आचार्य और वैष्णवों ने बिलकुल आंख मींच रक्खी थीं, जो इस तरह वर्णाश्रम धर्म के नाश होने पर भी और "वर्णाश्रमवतां" आदि वाक्यों के रहते भी किसी ने भी इसकी चर्चा भी न की। प्रत्युत उसके विरुद्ध आचरण करते आये और कर रहे हैं।

मेरी समझ में तो संसार मे विचार का प्रादुर्भाव ही इसलिये हुआ है कि सर्व मान्य शास्त्रोक्त सिद्धान्त में जब कभी कोई आपातत. विरोधि वचन आ जावें तो उनका विचार के द्वारा समन्वय कर लिया जाय। पर उन वचनो पर ही निभर रखकर किसी शास्त्रोक्त सिद्धान्त का ही परित्याग कर देना आचार्य और विद्वानो का कर्तव्य नहीं है। गीता, भागवत वेद, तीनों भगवच्छास्त्र हैं और श्रीमद्वल्लभाचार्य को यह मान्य है। इन सब ही ग्रन्थो मे वैष्णवो के लिये वर्णाश्रमाचार और

वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान करने की अनेकत्र आज्ञा है। और श्रीवल्लभाचार्य ने भी उसका स्वीकार किया है। उनके वाद के आचार्यों ने भो इसी सरणिका स्वीकार किया। 'वर्णाश्रमवताधर्मे' इत्यादि कारिकायें सबने हो देखीं, पढ़ीं विचारी होगी ही। पर किसी को भी ऐसा भरोसा नहीं था कि इनका ऐसा औंधा अर्थ लगाकर धर्म का नाश करने पर कोई तैयार होगा। अतएव उनमें से किसी ने भी इस तरह की मीमांसा नहीं की। अन्यथा वे कुछ न कुछ इस प्रकार का सकेत ही कर देते। पर अब साढ़े चार सौ वर्षों के बाद सम्प्रदाय के ऐसे धुरन्धर विद्वान् पैदा हुए जिन्हें इन वचनोका तात्पर्य धर्म त्यागने में मालूम देने लगा। और अतएव अब इसकी आवश्यकता हुई कि इन वचनो का विचार कर लिया जाय।

किसी भी सदिग्धतात्पर्य वचन का तात्पर्य जब बैठाना होता है, तब उसके लिये शास्त्रकारों ने कितने ही कारण रखे हैं। उपक्रम उपसंहार प्रकरण अधिकार संगति आदि अनेक तात्पर्य निर्णायक साधन हैं। इन सबका कुछ भी विचार न करके जो लोग केवल आपातत. प्रतीत अर्थ स्वीकार कर अर्थ का अनर्थ करने तैयार होते हैं, उन्हें तो किसी शास्त्र का देखने तक का अधिकार नहो है। ऐसों को ही गप्पाष्टक मण्डली पदवी दी जा मकती है। अब यह दिखाना है कि विचार के द्वारा पूर्वोक्त वचनों का क्या तात्पर्य होता है।

त्यक्त्वाऽस्वधर्म चरणाम्बुज हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततोयदि।
यत्रक्वाऽभद्रमभूदमुष्य किं कोवाऽर्थ आप्तोऽभजता स्वधमत.।

यह प्रथम स्कंध में व्यासनारद संवाद का श्लोक है। श्रीनारदजी भगवद्गुणानुवाद की अवश्य कर्तव्यता का उपदेश दे रहे हैं। "पहले श्लोक में" "दर्शय चेष्टितं" यह भगवच्चरित्र की विधि कह आये अब दो श्लोक में उसकी मीमांसा करते हैं—त्यक्त्वा०।

यहा सुबोधिनी इस तरह है। *ननु भगवत्कथा केन श्रोतव्या ? किं धर्मकर्तृभिर्लौकिकैरधर्मकर्तृभिर्वा ? तत्र आद्यस्य अनवकाशः। द्वितीयस्य लौकिकव्यापारेणाविष्टस्य न प्रवृत्तिः। तृतीये दुष्टाधिकारित्वादसच्छास्त्रता स्यात्...... तत्रोच्यते—धर्मकर्तृभिरेवश्रोतव्य पर धर्मापरित्यागेव। यथानिवृत्तिमार्गे धर्मत्यागस्तथाऽत्रापि। .. तथा च त्यक्त्वेति विधिः। ...... तत्रहेतुः अस्वधर्ममिति। देहादिधर्म तदधिकारेण वा प्रवृत्तम्। स्वस्य तु जीवस्य दासत्वात् भगवत्सेवैव स्वधर्मः।* अर्थात्—प्रश्न यह है, कि भगवान् के चरित्र कौन सुनें ? क्या धर्म करने वाले सुनें ? या लौकिक प्रावाहिक लोग सुनें ? या अधर्म करने वाले सुनें। यदि कहो कि, वैदिकयज्ञादि करने वाले सुनें तो उन्हें तो समय ही कहाँ है जो चरित्र सुने। प्रतिदिन अग्निहोत्र, प्रतिपर्व दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, छटे महीना निरूढपशु और प्रति वर्ष सोम, इन्हें धर्माचरण के सिवाय समय ही कहां हैं ? लौकिक प्रावाहिकों के हृदय में व्यवहारों का आवेश भरा हुआ है उनकी भगवत्चरित्र में प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी ? अब यदि कहो कि दुष्टों के लिये ही कथा है, वे सुना करें तो कहना पड़ेगा कि भगवच्चरित्रको असत्शास्त्रता होजायगी। जसा कोई द्यूत हिंसा आदि के शास्त्रों को समझता है ऐसे भगवतकथा को भी समझने लगेंगे। भगवत्कथा

संन्यासी वगैरह सुना करें । तो अब कहना होगा कि जब कोई सुनने वाला ही नहीं है तो भगवतकथा का विधान ही क्यों किया जाय ।

इसका उत्तर देते हैं कि—भगवच्चरित्र धर्म कर्ता ही सुने । यदि उसे समय न मिलता हो तो धर्म के कार्य को छोडकर इसे सुनें । अथवा जो धर्म भगवत्कथा में बाधक हों या चिरकाल साध्य हों, उनको छोडकर भगवत्कथा सुना करें ।इसलिये यह्। त्याग विधि है । जिसकी प्राप्ति और तरह न होती हो । और विधि के द्वारा ही प्राप्त हो वह विधि कही जातीहै । जैसे सन्यास आदिमें धर्मोंका त्याग आवश्यकहै,इसी तरह भगवच्चरित्र श्रवण करने में भी बाधक और चिरकाल साध्य धर्मों का परित्याग अपेक्षित है । इसमे हेतु अस्वधर्म है । यज्ञ यागादि धर्म जीव के स्वधर्म नहीं हैं । इस लिये उनका परित्याग करना अपेक्षित है । अथवा जो धर्म देहेन्द्रियादि सम्बन्धी हैं । किंवा वैसे अधिकार को लेकर कहे गये हों । वे स्वधर्म नहीं हैं । अतएव उनका परित्याग अपेक्षित है । जीव तो भगवान् का सहज दास है । अतएव भगवत्सेवा ही उसका स्वधर्म है । इत्यादि—

अब यहां यह देखना है कि जिस आग्रह के साथ वर्णाश्रम धर्मों का त्याग गप्पाष्टक मण्डली कह रही है । वही आग्रह इस सुबोधिनी से निकलता है । या नहीं ? इस सुबोधिनी से भगवत्कथा श्रवण का,भगवत्सेवा का आग्रह तो पाया जाता है । (त्यक्त्वा) यह लिङ्ग लोट् लेट् की तरह विधि में प्रयुक्त नहीं है ।अपेक्षा आवश्यक अर्थ दूसरा है और विधि अर्थ दूसरा

है। यहां विधि का अर्थ आवश्यक है। वास्तविकविधि नहीं है। यदि यह "यजेत्" की तरह वैदिक विधि (आज्ञा) होती तो अकरण मे प्रायश्चित्त भो कहते सो कहा नहीं। यह भक्ति मार्ग है इस लिये यहां वैसी विधि हो नहीं सकती। अन्यथा इसश्रवण को भक्तित्व न रहके धर्मत्व आजाय। यह कथा श्रवण भक्ति मार्गीय है। यहां किसी भी कर्तव्य में विधि का स्पर्श नहीं हो सकता।

दूसरा विचार यह भी होता है कि—संन्यासादि दृष्टान्त, और अनावकाश प्रश्न, इन दो कारणों से यह धर्म त्याग विधि, किसी काल और अधिकार में है—सार्वकालिक नहीं। और मनुष्य मात्र साधारण भो नहीं। भक्ति या सेवा मनुष्य मात्र साधारण हो सकती है, पर धर्मत्याग मनुष्यमात्र साधारण विधि नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो फिर धर्म का विधान ही व्यर्थ हो जाय। मनुष्य सब हैं और सबको धर्मत्याग इष्ट है, तो धर्म की विधि हो क्यों? अच्छा अब यह भी विचारना है, कि यह धर्म त्याग विधि सार्वकालिक है या विशेष कालिक। सार्वकालिक तो हो नहीं सकती क्यो कि जीवमात्र सर्वदा भगवद्दास है। और सर्वदा ही धर्म त्याग का विधान है तो फिर भी धर्म की विधि व्यर्थ हो जाती है। और धर्माचरण किस समय कौन करे। यह प्रश्न भी बना ही रहता है। और इसी लिये सब धर्मशास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। और यदि धर्म-त्याग और भक्ति को इतनी व्यापक मान लें, सार्वकालिक और मनुष्य मात्र साधारण मानलें, तो फिर मर्यादा मार्ग प्रवाह मार्ग और पुष्टिमार्ग, तीनमार्ग की सत्ता ही कहां रही। फिर तो एक भक्तिमार्ग ही रहेगा।

इस लिये मानना पडेगा कि "त्यक्त्वा" यह विधि भक्ति कालिक है। अर्थात् जो समय सेवा का हो, भगवच्चरित्र सुनने का हो उस समय धर्मों का परित्याग कर दे और यदि समय मिले तो वर्णाश्रम धर्मों का अनुष्ठान करे तो कोई हानि भी नहीं है। यहा एक यही विचार है कि "भजन्" शब्द में वर्तमान कालिक शतृ प्रत्यय है। अतएव भक्ति सार्वकालिक है। इसका स्पष्टार्थ यह होता है कि भगवत्भजन करने से जिन्हें समय ही न मिलता हो उन्हें वर्णाश्रम धर्मों का त्याग कर देना उचित है। पर भजन का त्याग करना उचित नहीं है। क्यों कि भजन नित्य होने से आत्म धर्म है। और यज्ञ यागादि वर्णाश्रम धर्मादि किसी अधिकार विशेष को लेकर विहित हैं। इस लिये अनित्य हैं, देह धर्म हैं। अस्वधर्म हैं। यहा स्वशब्द वाच्य आत्मा है। आर आद्यस्य (कर्मकर्तुः) अनवकाश. (समया भाव), समय न होने का ही प्रश्न था। वैदिक विधि मे समय का प्रश्न ही नहीं है। वहा सब को छोडकर धर्म करना ही चाहिये, यह प्रभु समित आज्ञा है। इस तरह "त्यक्त्वा मे" विधि नहीं है, अपेक्षा हो तो त्याग करे। सर्वदा भजन करने वालोंको धर्म त्याग किये बिना चलता नही। इस लिये त्याग की अपेक्षा है। इसमे उतना आग्रह है कहा? आर इसी लिये इस सुबोधिनी मे—

बाधकाना चिरकालसाध्याना वा परित्याग ।
देहादिधर्म, तदधिकारेण वा प्रवृत्तम् ॥

ये विकल्प किये हैं। अर्थात् जो धर्म चिरकाल साध्य

हों या भक्ति के बाधक हों उन्हें छोड़ दे । यहां इतना आग्रह कहा है । इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि जो चिरकाल साध्य न हों किंवा श्रवण के बाधक न हो उन्हें न छोड़े । वास्तव में—

अभजतां असेवकानां केवलदेहाद्यध्यासेन प्रवृत्तानां लौकिकानां ब्राह्मण्याद्यधिकारेण प्रवृत्ताना वैदिकानां च ये धर्मास्ते वस्तुतःसतां परधर्माः।

अर्थात् जो लोग कभी श्रवणादि नहीं करते, भगवत्सेवा भी नहीं करते, और केवल देहेन्द्रियादि को ही आत्मा मान कर लौकिक व्यवहारों में ही फँसे हुए हैं, उन प्रावाहिक जीवों के, और ब्राह्मण, क्षत्रियादि के अभिमान से देहादि को मुख्य मान कर उस अधिकार से वैदिक कर्म करने वालों के जो लौकिक या वैदिक धर्म हैं, वे भगवद्भक्तों के लिये पर धर्म हैं । इस सुबोधिनी से स्पष्ट हो रहा है, कि जो भगवद् भजन नहीं करते देहाध्यास। हैं, और ब्राह्मण्यादि का अभिमान जिन्हें है, और सेवा नहीं करते, उनके लिये ही वर्णाश्रम धर्म पर धर्म हैं और त्याग करने योग्य हैं । किन्तु जो अपनपे को भगवद्दास समझ कर प्रथम सेवा करते हैं, भगवच्चरित्र सुनते हैं और समय मिले तो वर्णाश्रम धर्म भी करते रहते हैं । उनके लिये त्याग की अपेक्षा ही नहीं है, और न उनके लिये यह विधि है । वे सेवा के अनवसर में यथाशक्य वर्णाश्रम धर्म कर सकते हैं । और वास्तव में ऐसा साम्प्रदायिक सदाचारादि चल रहा है कि आचार्य आदि साम्प्रदायिक लोग सेवा के अनवसर में सन्ध्या-वन्दनादि कर लेते हैं । और वास्तव में देखा जाय तो इस श्लोक में बड़े यज्ञ यागादि जो चिरकाल साध्य हैं और जिनके करने से भगवत्कथा श्रवण करने में बाधा आती है और

भगवत् सेवा ही रुक जाती है, उनके त्याग करने की आज्ञा है। सब ही वर्णाश्रम धर्मों के त्याग की आज्ञा नहीं मालूम देती।

मेरी समझ में अब इस श्लोक का यह तात्पर्य मालूम देता है कि जीव धर्म, भगवच्चरित्र श्रवण, सेवा है। और देह धर्म वैदिक धर्म हैं। दोनों के करने की शास्त्राज्ञा है। दोनों साधारणतया नित्य हैं, कर्तव्य हैं, अब क्या करना चाहिये। तब कहते हैं कि जिनका वैदिक धर्मों में अधिकार ही नहीं है वे तो भजन करते ही हैं। किन्तु जिनका वर्णाश्रम आदि वैदिक धर्मों का अधिकार है उन ब्राह्मणादि वर्णों को भी भगवद्भजन ही करना चाहिये। समय मिले तो उसका बटवारा करके पहले समय में भजन, फिर उससे बाकी रहे समय में वर्णाश्रम धर्म करें तो कोई हानि नहीं। क्यों कि जहां तक देहाध्यास बिलकुल नहीं गया है, वहां तक ब्राह्मण देह के धर्म भी भगवदाज्ञा प्राप्त मानकर भगवदीय को कर्तव्य हैं ही। अब यदि भगवत सेवा में "भजन्" लगे रहने से समय बिलकुल ही नहीं मिलता हो तो वर्णाश्रम धर्मों का सर्वथा परित्याग करदे। उस समय त्याग करने का दोष नहीं है। क्यों कि आत्म धर्म होने से भगवद्धर्म भजनादि बलिष्ठ हैं "अन्तरङ्ग" हैं। और वर्णाश्रमादि धर्म पर धर्म हैं बहिरङ्ग हैं। अब देखना यह है कि आजकल के कितने ऐसे वैष्णव है जो प्रातः काल ५ बजे से रात्रि के १० बजे पर्यन्त भगवद्भजन में संलग्न रहते हैं। और जिनको कि समयाभाव से वर्णाश्रम धर्म के त्याग की अपेक्षा हो। मेरी समझ में तो दो चार ही ऐसे महापुरुष होंगे। ऐसे पूज्य पुरुष यदि समयाभाव के कारण वर्णाश्रम धर्म का

त्याग करदें, तो वह शास्त्र प्राप्त है, कर्तव्य है। लीलाप्रविष्ट गो० श्री रणछोड़लालजी महाराज कोटास्थ अपने लौकिक व्यवहारों में सकोच करके भगवत्सेवा और वर्णाश्रमधर्मों का भी यथाशक्य निर्वाह करते ही थे। क्या उन्होंने "वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे" यह वचन नहीं देखा होगा या, सुना भी न होगा।

वास्तव में तो श्री वल्लभाचार्य ने ही त० निबन्ध में इस बात का भी निर्णय कर दिया है—

भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते। १६३ का०।

अयमर्थः—स्वाश्रमाचारब्रह्मानुभवसहितमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो ब्रह्मभाव करोति। तादृशश्चेत्परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या (सेवा) आनन्दरूपा सती त्रयोदशगुणा भवेत्। तदा फलरूपायां तस्या स्वाश्रमाचारादिकरण फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेनानुभवे स्वाश्रमाचारा स्त्यक्तव्या। यथा ब्रह्मभावं गतस्य। अन्यथा कर्तव्याः। सन्ति ब्रह्मभाव प्राप्ताः, नत्वेतादृशा भक्ताः।

इसका यह तात्पर्य है कि पूर्वोक्त रीति से फल रूपा आनन्दमयी प्रेम भक्ति जब प्राप्त हो जाय और उस फल के अनुभव करने में वर्णाश्रमादि धर्म प्रतिवन्धक मालूम देने लगें, तो उनका परित्याग कर देना चाहिये और प्रतिवन्धक न मालूम पड़ते हों तो करते रहने चाहिये।

अब यहाँ गप्पाष्टक मण्डली को बताना चाहिये कि ऐसी फलरूपा आनन्दमयी प्रेम भक्ति में निमग्न, फल का अनुभव

करने वाले कितने हज़ार मनुष्य हैं, जिनको वर्णाश्रम धर्म छोड़ने का आग्रह किया जारहा है। यदि कहो कि यह तो विहित भक्ति की बात है, पुष्टि भक्ति की बात नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि 'त्यक्त्वा' यह भी विधि है, फिर उसको पुष्टिमार्ग में क्यों घुसाते हो। वास्तव में तो आनन्दमयी फलरूपा प्रेम भक्ति वैधी है ही नहीं। प्रेम भक्ति तो अनुग्रह प्राप्त है, इसलिये यहाँ इतना अंश तो पुष्टिमार्गीय ही है।

"अपिचेत्सुदुराचारो" 'पापयोनय' आदि गीता वाक्यों में भी वर्णाश्रम धर्मों के त्याग का तात्पर्य नहीं है। पूर्व में जो दुराचारी हो अथवा जो पापाचरण से अब यहां चाण्डालादि देह मे आ गया हो, वह भी यदि अनन्य भजन करे तो उसे साधू ही मानना चाहिये और ऐसो का भी भगवदनुग्रह से उद्धार होता है। यह इन शब्दों का तात्पर्य है, इसमे धर्म त्याग का गंध भी नहीं है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह भगवदीय विधि है सही, पर क्या यह विधि आज कल के कोट पतलून-धारी या खादीधारियों के लिये है, या आज कल के नाममात्र पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिये है? नहीं। यह श्लोक तो उन्हीं भगवत्प्रेम निमग्न अनन्य भागवतों के लिये है। "सर्वधर्मान्" शब्द लौकिक वैदिक दोनों धर्मों का परित्याग कह रहा है, केवल वर्णाश्रम धर्म का नहीं। करना हो तो दोनों का करो। सो किसी को करना नहीं हैं। जो लोग अपने छोटे छोटे लौकिक धर्मों का परित्याग करना नहीं चाहते। उनको वर्णाश्रम मात्र छोड़ाने का आग्रह इस गीता वाक्य से किया जा रहा है, बड़ा आश्चर्य है।

न्यासा देश " सर्वधर्मान् " की टीका भाष्य में आज्ञा की है कि—

"वस्तुतस्त्वन्यत्रैव तात्पर्यम् ।
भक्तिमार्गीयन्यासो घोषभूपणसीमन्तिनीष्वेव
पितृचरणै. सन्यासप्रकरणे निरूपित." ।

अर्थात इस "सर्वधर्मान्" सर्व धर्म परित्याग का तात्पर्य अन्यत्र है। आज कल के धर्म भ्रष्टों के लिये नहीं है। वास्तव में यह परित्याग केवल श्रीगोपीजन के त्याग को दिखाने वाला है। यह त्याग अनुग्रह मार्गीय है। ऐसा त्याग भी गोपीजनों ने ही किया है, दूसरों को यह त्याग शक्य नहीं है।

'श्वादोपि सद्यः सवनाय कल्पते'
'अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान्'

इत्यादि वाक्यों से भी वर्णाश्रम धर्म का परित्याग प्राप्त नहीं होता। तृतीय स्कन्ध में देवहूतिजी भगवन्नाम के माहात्म्य को दिखा रहीं हैं। वहा टीका में लिखा है कि—

'यत्र नाम रूप वा स्वसामर्थ्यं प्रकटयति तत्र,
एवमेव इत्यतिप्रसक्तिरपि निवारिता ॥६॥
'ये पूर्वं जन्मनि प्रथमं तपस्तेपु.,
तत' शुद्धब्राह्मण जन्मनि········ इत्यादि ।
नाम माहात्म्य स्थापपितु श्वपचत्वं जातमिति
निरन्तरनामोच्चारणादवसीयते अयमहानेव तथाजातइति'।
अतो युक्तमुक्तमित्यर्थः ॥ ७ ।

करने के लिये हुआहै।जिसका प्रादुर्भावजिस कार्य के लिये भगवदिच्छासे हुआ है,वही वह कार्य कर सकता है। श्रीवल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव सर्व मीमांसा के लिये हुआ है। इसलिये गोपीजनों के इन वचनों से धर्म के त्याग की विधि नही ले सकते। पर श्रीवल्लभाचार्य के स्वतन्त्र वचनों से धर्म त्याग की विधि ले सकते हैं।

यहाँ की सुवोधिनी परतन्त्र हैं, अनुवादक-मात्र है। श्रीमद्भागवत का जो सिद्धान्त अर्थ हैं, उसे यथाधिकार व्यक्त कर देनाही सुवोधिनी का कार्य है। श्रीगोपीजन, भगवान् भक्तके रूप में प्रकट हुएहैं यह द्वितीय सुवोधिनीमें व्यक्त कर दिया गया है, नित्य सिद्धान्तो सिद्धिरूपा हैं, अतएव स्वरूप ही हैं। श्रुति रूपा भी शब्द ब्रह्म हैं। ऋषिरूपा भी ऋषि होने से वेदमय हैं। तथा प्रकीर्णा भी गोपीजन देवरूपा हैं। अतएव कहना होगा कि कितने ही गोपीजन स्वरूप हैं कितने ही अवयव हैं,और अंश हैं। इन सबका अधिकार भगवान् के समान है, असाधारण है। ये भगवद्व्यसन को प्राप्त हो चुकी थी, प्रेममयी थीं। वे अपने अधिकार से मनुप्रभृति धर्मशास्त्रज्ञो को वहिर्मुख (संसारी) कहें, धर्म का त्याग करें, अनात्मज्ञ कहें और चाहे स्वय वेदमार्ग का उल्लङ्घन करें। उनको न लोक से कार्य है और न वेद से भी स्वार्थ है। पर इमसे क्या वास्तव मे मनु भगवान् वहिर्मुख हैं? क्या याज्ञवल्क्य अनात्मवेदी हैं। मनु को अनुग्रह स्कंध में भागवतो में गिना है। और धर्म स्कध में भगवान् कहा है। श्रीगोपीजन की दृष्टि में वे कुछ भी हो पर उनका दृष्टान्त लेकर रागद्वेषी और संसारी हम लोग भी यदि याज्ञवल्क्य और मनु को वहिर्मुख और अनात्मज्ञ कहने लगे तो हमे विद्वान् लोग अन्धबधिर या पागल ही समझेगे।

"तेजीयसां न दोषाय" "यथारुद्रोऽब्धिजं" आदि वचनों का सुबोधिनी में निर्णय कर दिया गया है कि बड़ों के सामर्थ्य चरित्र दूसरे होते हैं और विधेयचरित्र दूसरे होते हैं। उनके सामर्थ्यचरित्र या वचन हमारे कर्तव्य में प्रमाण नहीं हो सकते और जो लोग उस दृष्टान्त को लेकर धर्म व्यतिक्रम करते हैं या कराते हैं, उनका पात अवश्य होता है। बड़ों के वैसे चरित्र और कर्तव्यों का सार तो इतना ही लिया जा सकता है कि "मनुष्य को सब में से मन हटाकर श्रीकृष्ण में लगाना चाहिये ! भगवान् की सेवा अवश्य करनी चाहिये"। और वास्तव में तो ये उनके वचन विधि रूप हैं ही नहीं। अतएव हमारे लिये प्रमाण नहीं हो सकते। इस तरह यदि प्रामाण्य की व्यवस्था की जाय तो बड़ा अति प्रसङ्ग हो जायगा। यह तो एक तरह से समाजियों का अनुकरण है। गार्गी ने वेद का शास्त्रार्थ किया था, इसलिये स्त्रियों को वेद पढ़ाना चाहिये, जनेऊ पहरनी चाहिये, यज्ञ करने चाहियें। सुग्रीव ने तारा को रखली थी, इसलिये विधवा विवाह शास्त्र सिद्ध है, तो फिर रासलीला क्या है ? क्या वह भी सब स्त्री पुरुषों को करनी चाहिये !! राम राम।

वास्तव में शुद्ध पुष्टिमार्ग तो विधेय ही नहीं है। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्यजी ने *'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते'* *'शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः'* *'कोटिष्वपि सुदुर्लभः'* इत्यादि कह कर इस समय उसका असम्भव बता दिया है। मुक्ति में विरुद्ध साधन कामादि है। इसी तरह धर्म त्याग भी है। यह अवतार अवस्था में ही हो सकते हैं, अनवतार अवस्था में नहीं। क्योंकि वहाँ अनुग्रह के द्वारा स्वरूप से मुक्ति होती [illegible] साधनों से नहीं।

"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत"—

कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि।

ते हि भागवता प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः॥त० नि०

इस समय भगवान् श्रीकृष्ण की कही हुई गीता ही सर्व प्रधान शास्त्र है। इस भगवद्वाक्य गीता के अनुसार जो वेदादि सब शास्त्रों का अर्थ करते हैं, वे ही भगवदीय हैं वे ही कर्म मार्गी हैं और वे ही ब्रह्मवादी ज्ञानमार्गी हैं।

इसलिये "वर्णाश्रमवता" इत्यादि कारिका का यही तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण का भजन न करके जो लोग केवल पंच-महायज्ञों पर ही अपने उद्धार की आशा किये बैठे हैं, उनके उस धर्म को भगवान् का बल अब नहीं है। कलियुग ने उसके अंगों में घुसकर उसकी मुख्यता का नाश कर दिया है। इसलिये अब केवल उसी मार्ग से मुक्ति होना असम्भव है। अब तो गीतोक्त मार्ग से ही उद्धार हो सकता है।

षड्भिः संपद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलौ।

अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत्सदा॥

श्रीभागवतमार्गेण सकथचित्तरिष्यति।

देश कालादिक अंगों मे मुख्य धर्म की अभिव्यक्ति होती है और वे इस कलियुग में शुद्ध मिलने असंभव हैं, तो भी गीता भागवत मार्ग में स्थित रह कर जो सदा श्रीकृष्ण का भजन करता रहता है, वह किसी तरह कलि दोषों से मुक्त रह सकता है।

एक यहाँ यह भी विचार होता है कि वर्णाश्रम सामान्य धर्म का नाश सब के लिये समान हुआ है, किंवा केवल पुष्टिमार्गीयों के ही लिये। यदि सबके लिये समान रीति से हुआ है, यह कहो, तब तो यह प्रश्न उठता है कि तो फिर श्रीवल्लभाचार्य ने निबन्ध आदि में जो वर्णाश्रम धर्म का निर्णय किया है, वह कौन के लिये और किस लिये ?

'गर्भाधानादि संस्काराः' वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु'
'श्रेयान् स्वधर्मः' तस्माद्वेदोक्तमार्गेषु न स्वल्पोपि पतेत्'
'स्वधर्माचरण शक्त्या' 'अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमास.'

इत्यादि शतशः कारिकाओं में किया हुआ वर्णाश्रम धर्म का निर्णय ही व्यर्थ है, नष्ट हुये का निर्णय कैसा ?

और यदि कहो कि केवल पुष्टिमार्गीयों के लिये ही नाश हुआ है, तो कहना पड़ेगा कि सनातन धर्मियो के लिये क्या यह सतयुग है ?

और एक यहभी विचार समय प्राप्त है कि वर्णाश्रमधर्मका निर्माण ही क्यों किया गया ? इस विषय में श्रीकृष्ण का तो यह मत है कि ये धर्म पवित्रता के लिये कहे गये हैं—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञोदान तपश्चैव पावनाति मनीषिणाम् ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सगत्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

जो लोग मन को वश में रखना चाहते हैं उन्हें यज्ञ दान, तप आदि वैदिक धर्मों का अनुष्ठान करना ही चाहिये। क्योंकि ये धर्म तो मन को निर्मल करने वाले हैं। किन्तु इन धर्मों का भी आचरण, आसक्ति और फलाकाङ्क्षा छोडकर करना चाहिये। हे पार्थ! यह मेरा निश्चित उत्तम मत है। श्रीभागवत में भी कहा है कि—

दान स्वधर्मोनियमो यमश्च श्रुतच कर्माणि च सद्व्रतानि च।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधि.॥
मनोपशेऽन्ये ह्यभव स्म देवामनश्च नान्यस्य वश समेति।
भीष्मोदि देव सहस सहीयान् युञ्ज्याद्वशेत सहि देवदेवः॥

सारे देवगण इस मनके वश में हो जाते हैं, पर मन किसी के भी वश में नहीं आता। यह मनोदेव वडा भयकर है, सहन करने वालों से भी वडा साहसी है। इसे जो अपने वश में करता है, वह देवों का भी देव है। इसलिये दान, वर्णाश्रम धर्म, नियम यम वेदाध्ययन और जो जो अच्छे व्रतादि कर्म हैं, वे सव मन को रोकने के लिये ही कहे गये हैं। सव से वडा उपाय वही कहा जाता है, जो इस मनको वश में करा सकै। इत्यादि शास्त्र वचनों से यह सिद्ध होता है कि वर्णाश्रम धर्म मन को वश मे रखने के लिये वनाये गये हैं।

मन की भयंकरता शास्त्र और अनुभव से सिद्ध है। और फिर इन्द्रिय और विषय इस मनकी पवित्रता को होने ही नहीं देते, यह भी सव को प्रत्यक्ष है। मन को भगवान् मे दृढ़ लगाना है। यह ध्येय पुष्टि मार्ग का भी है। पर वह पवित्र निर्दोष हुए

है। लूखा सूखा भोजन प्रेम से सुभोजन हो जाता है। टूटी झोंपड़ी भी महल होजाती है। यहाँ तक कि गाली भी आशीर्वाद हो जाती है। यह तो साधक की बात है।

और साध्य में करुणा या अनुग्रह ही हेतु है। पुष्टिमार्ग में भगवत्प्रीति साध्य है। जो कुछ भी टूटे फूटे साधन किये जातेहैं,उनसे ही भगवान् प्रसन्न रहे या हो जाँय,यह प्रत्येक पुष्टि-मार्गीय वैष्णव चाहता है। पर इसमें भगवान् की करुणा ही या अनुग्रह ही हेतु है। हमारे साधन और हम तो जो हैं, जैसे हैं, वैसे ही हैं। अर्थात्—

"कियान् पूर्व जीवस्तदुचितकृतिश्चापि कियती"

इस विज्ञप्ति के अनुसार कुछ भी नहीं है। पर भगवान् अंगीकृत के उन्हीं साधनों को यदि करुणाकर स्वीकार कर ले तो वेड़ापार है। और करता ही है। क्योंकि"पुष्टिमार्गं स्थितोयस्मात्" भगवान् ने जीव पर अनुग्रह करने का स्वीकार कर लिया है। समाधिभाषा में इसी बात को इस तरह कहा है—

नैवात्मनः प्रभुरय निजलाभ पूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मान
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥ ७ स्क०

किमासन ते गरुडासनाय किं भूषण कौस्तुभभूषणाय।
लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देय वागीशकिंते वचनीयमस्ति॥

प्रभु के यहाँ स्वभाविक ऐश्वर्य और आनन्द इतना है कि

वह अपने ऐश्वर्य आनन्दादि के लाभ से पूर्ण कहा जाताहै। उसे किसी के दानमान की सर्वथा अपेक्षा नहीं है। पर यों समझकर यदि प्रभु जीवकी की हुई सेवा का ग्रहण न करै, तो फिर जीव का उद्धार कैसे हो। इसीलिये भगवान् जीवकी की हुई प्रेम पूर्वक जैसी तैसी सेवा को भी करुणाकर ग्रहण करता ही है। जीव जो कुछ भी भगवान् के लिये करता है, वह अपने ही उद्धार के लिये करताहै। जैसे बिम्बका शृंगार प्रतिबिंब में प्रतिफलित होता है। वास्तव में देखा जाय तो आसनादि सब गरुड़ासन की दृष्टि में क्या है ? कौस्तुभ के आगे अन्य भूषण कौन वस्तु है, जिसके घर में नित्य लक्ष्मी निवास करती है, उसको हम रुपया दो रुपया भेंट धर क्या प्रसन्न कर सकते हैं और जो स्वयं सरस्वती का पति है, उसे कौनसी स्तुति से प्रसन्न कर सकते हैं। अर्थात् वह यदि प्रसन्न होता है, तो हमारे साधनों से नहीं, अपनी करुणा से ही प्रसन्न होता है।

"यस्मादस्मिंस्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छ-
त्यद्धा तद्गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति ॥"

और वह करुणा, जीवों के प्रेम से भगवान् को होती है। जीव सर्वतः असाधन और दीन कृपण है। पर वह जब प्रेम पूर्वक अपनी सेवा लेकर जाता है, तो प्रभु अनुग्रह पूर्वक बड़े प्रसन्न होकर उसकी किसी तरह की भी सेवा को ग्रहण करते हैं। बस ! हमारे पुष्टिमार्ग में प्रभु की करुणा और जीव का प्रेम ये दो ही विशेषता है, अन्यत्र यहनहीं। उपासना और वैदिक मार्ग में वेद की विधि है और पुष्टिमार्ग मे प्रेम ही नियामक है। शीत काल में रुई वगैरह के वस्त्र, अंगीठी, केशर आदि के भोग, उष्ण काल

में हलकी मलमल के हलके रंग के एक दो ही वस्त्र, पुष्प प्रधान शृंगार, शीतल भोग आदि जितनी सेवा हैं। वह सब प्रेम प्रधान हैं विधि प्रधान नहीं । सहस्त्रघट स्नान, चन्दन पाद्य, तिल कुशरान्न प्रभृति जो जो शास्त्रीय विधि हैं, उन्हें भी स्नेहानुकूल भावानुकूल बनाकर की जाती है। सेवा विधि में सब शास्त्रीय विधि भी रक्खी है, पर भावानुकूल, स्नेहानुकूल बनाकर रक्खी गई हैं। यहाँ तक कि प्रभु के आगे गाली भी गाई जाती हैं, पर स्नेह में सनी हुई। विरुद्ध साधनों को भी स्नेहानुकूल करके ही इस मार्ग में रक्खे हैं। यही हमारे पुष्टिमार्ग की विशेषता है और यही वैदिकादि मार्गों से भेद है। श्रीगोपीजनों के ऐश्वर्य चरित्रों को छोडकर फिर जिस प्रकार प्रेम पूर्वक उन्होंने प्रभु की परिचर्या की उसी प्रकार श्रीप्रभुचरण ने इस पुष्टिमार्ग की सेवा पद्धति रक्खी है। और वह आज तक उनके वंशजोंसे रक्षित हैं।-इसलिये श्रीवल्लभाचार्य प्रकाशित श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण परिवर्धित और उनके वंशज आचार्यों द्वारा तथा महानुभाव भगवदीयों द्वारा संरक्षित,इस पुष्टिमार्ग में कोई भी दोष नहीं है और प्रभु को प्रसन्न रखने के सब ही गुण वर्तमान हैं। अब रहा आज कल के साधारण वैष्णवादि मे क्वाचित्क दोष, सो वह मार्ग के दोष नहीं कहे जा सकते। इसलिये आज कल यह मार्ग जीवोद्धार के लिये सर्वोत्तम है और सुसाधन है हरिःओ३म्। शम्।

निःसाधनदुःसाधनसुसाधनानामपीहगतिरेका।
साश्रीपते रनुमहनाम्नी लीलाऽनिश जयति ॥

-देवर्षि रमानाथ शास्त्री।